मनोरंजन पुस्तकमाला-१३

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

महादेव गोविंद रानडे

लेखक

रामनारायण मिश्र बी० ए०

१९७९

भारतजीवन प्रेस, बनारस में मुद्रित।

दूसरा संस्करण] [मूल्य १)

प्रस्तावना ।

" As we stand upon the sea-shore while the tide is coming in, one wave reaches up the beach far higher than any previous one, then recedes, and for some time none that follows comes up to its mark, but after a while the whole sea is there and beyond it; so now and then there comes a man—head and shoulders above his fellow-men, showing that nature has not lost her ideal and after a while even the average man will overtop the highest wave of manhood yet given to the world."

—Marden.

जीवनचरित्र लिखना बड़ा कठिन काम है। पहले तो यही निश्चय करना सहज नहीं है कि किसका जीवन इस योग्य है कि संसार के सम्मुख रक्खा जाय। यों तो प्रत्येक मनुष्य से हमको कुछ न कुछ शिक्षा मिलती है, पर उल्लेख करने योग्य उन महानुभावों की कीर्त्ति है जो जन-समूह के पथ-प्रदर्शक हुए हैं; सुरक्षित करने योग्य उनके जीवन हैं जिन्होंने किसी देश के इतिहास को पलट दिया हो। मान लीजिए कि भगवान् बुद्धदेव ने जन्म न लिया होता अथवा वे राज्यपरिवार में ही रह कर देश का शासन करते। यदि इनमें से एक बात भी हुई होती तो संसार का इतिहास शून्यप्राय होता। धर्म के वे

उच्च भाव कहाँ उत्पन्न हुए होते जिनको आज भी संसार की अधिक संख्या अपने हृदय की संपत्ति समझता है। चीन, जापान, मंगोलिया इत्यादि देशों का इतिहास ही दूसरा होता, भारत को जो गौरव उनके उत्पन्न होने से प्राप्त हुआ उससे वह वंचित रहता। चरित्रलेखक को इसी कसौटी से अपने नायक को जाँचना चाहिए।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि चरित्र लिखे कौन ? हर एक लेखक जीवनचरित्र लिखने की योग्यता नहीं रखता। जिसका वह चरित्र लिखने बैठता है यदि उसके कार्यों से उसको सहानुभूति नहीं है तो वह उसका चरित्र लिखने के बिलकुल अयोग्य है। इसके साथ ही उसको पक्षपात-रहित होना चाहिए। उसकी श्रद्धा और भक्ति की सीमा होनी चाहिए। अपने नायक को विक्रमादित्य अथवा अकबर के वंश का सिद्ध करनेवाला अथवा उसको अवतार की पदवी देनेवाला उससे भी अधिक अयोग्य है कि जो सहानुभूति-रहित लेखक है। यदि लेखक ने अपने नायक के जीवन काल में उसका संग किया हो, उसकी दिनचर्या वर्षों तक देखी हो, उसके व्यवहार का वह स्वयं साक्षी हो, उसके कार्यों में उसने योग दिया हो तो वह चरित्रलेखक अत्यंत प्रशंसनीय हो सकता है। किसी महानुभाव के जीवन में उनके वे ही कार्य उतने शिक्षाप्रद नहीं होते जो वे प्रगटरूप में संसार के सम्मुख आते हैं, जितने कि वे कार्य जो वे घर के अंदर अपने नित्यप्रति के व्यवहार में करते

हैं। सब के सामने तो दुष्ट भी भला बनने का प्रयत्न करता है। किसी व्याख्यानदाता की ओजस्विनी वक्तृता, उसके मीठे, मधुर शब्दों, उसके सुगठित, सुललित, वाक्यों से लट्टू हो जानेवाला धोखा खा सकता है। जाओ और तीन मास उसके साथ रहो, देखो वह अपने नौकरों से कैसा व्यवहार करता है, उसके लेन देन का हिसाब कैसा है, अपने माता पिता, बहिन भाई, स्त्री बच्चों से वह किस प्रकार मिलता है, किस समय सोता जागता है, स्त्री मात्र की ओर उसकी कैसी दृष्टि रहती है इत्यादि। यदि उसका पारिवारिक जीवन, रुपये पैसे का हिसाब, पड़ोसी और अन्य मिलनेवालों से बर्त्ताव देखने के बाद भी श्रद्धा बनी रहे तो मुक्तकंठ से स्वीकार करो कि वह उत्कृष्ट पुरुष है। महापुरुषों का गार्हस्थ जीवन भी सर्वसाधारण की संपत्ति है, उनके जीवन का वह भाग भी खुली हुई पुस्तक के समान है, जिसकी इच्छा हो पढ़ ले। आजकल बहुधा सुनने में आता है कि किसी की 'प्राइवेट' जीवनी से क्या मतलब, उसका 'पब्लिक' जीवन देखना चाहिए। यह सिद्धांत विषैला है। प्राइवेट जीवन ही पब्लिक जीवन बनाता है। प्राइवेट जीवन को पब्लिक रखने में चरित्र-सुधार में बड़ी सहायता मिलती है, यहाँ लों कि क्रमशः साधनांतर प्राइवेट और पब्लिक जीवन में भेद भी जाता रहता है।

इन सिद्धांतों को सामने रख कर रानडे का जीवनचरित्र लिखना कठिन हो जाता है। कठिनाई इस बात में नहीं है कि उनके पथ-प्रदर्शक, जातीय इतिहास निर्माणकर्त्ता होने में संदेह

है। अथवा उनका गार्हस्थ-जीवन संदिग्ध था। कठिनाई लेखक की अयोग्यता में है। चरित्रनायक उच्च कोटि का विद्वान्, देश-भक्त और गृहस्थ था, परंतु चरित्रलेखक की अन्यान्य त्रुटियों को छोड़कर उसको रानडे को दो बेर दूर से देखने के अतिरिक्त कभी उनसे वार्त्तालाप करने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

हमें रानडे के चरित्र से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। उनके जीवनकाल में कोई भी संस्था ऐसा नहीं स्थापित हुई जिसमें उन्होंने सहायता न दी हो। कांग्रेस के वे जन्मदाताओं में से थे। सोशल कानफरेंस, औद्योगिक सम्मेलन इत्यादि के वे ही प्रवर्त्तक थे। प्रार्थना-समाज के वे नेता थे, आर्यसमाज के जन्मदाता के वे परम भक्त थे और उनके कार्यों के परम सहायक थे। 'स्वदेशी' ने उनके काल में 'आंदोलन' का रूप धारण नहीं किया था. परंतु तिस पर भी वे पूरे पक्के स्वदेशी थे। वे यथासाध्य सदा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते थे। वे इतने बड़े देशभक्त तो थे ही, पर मातृभक्ति और पितृभक्ति में भी वे अनुकरणीय थे। उनकी माता का देहांत उनकी बाल्यावस्था ही में हो गया था। उनके पिता ने दूसरा विवाह किया था। रानडे अपनी सौतेली माँ को अपनी ही माँ समझ कर भक्ति की दृष्टि से देखते थे। अपने पिता के तो वे परम भक्त थे, सब-जज होने पर भी उनको देखकर खड़े हो जाते थे, उनको दुःखी देख कर विह्वल हो जाते थे और उनकी खातिर अपने सिद्धांतों को भी थोड़ी देर के लिये भूलने को तैयार हो जाते थे।

सुधारक में यह दोष कदापि नहीं आना चाहिए। संसार के चिरस्मरणीय सुधारक वे ही हुए हैं जो अपने सिद्धांतों को ईश्वर की आज्ञा समझ कर माता पिता के सुख, दुःख, बिरादरी और जनसमूह के कोप की कुछ पर्वाह न करते थे। ऐसे लोगों के जीवन हतोत्साहित को उत्साहित करते हैं, निर्जीव में जीवन-प्रदान करते हैं।

रानडे इस उच्च श्रेणी के सुधारक नहीं थे, परंतु उनके जीवनचरित्र में इस बात के उदाहरण मिलेंगे कि उन्होंने भूल करने के बाद उसको अच्छा सिद्ध करने की कभी चेष्टा नहीं की। भूल हुई भी तो कोमल हृदय होने के कारण, न कि सिद्धांतों पर अविश्वास के कारण। अपने आदर्श के झंडे को उन्होंने कभी नीचा नहीं किया। पहली स्त्री के मरने के उपरांत उनका विवाह जबर्दस्ती किया गया, पर उन्होंने दूसरी स्त्री के पढ़ाने में जो परिश्रम किया, जितना दुःख सहा, और जिस प्रकार श्रीमती रमाबाई को रमणियों में अग्रगण्य बनाने में तन मन धन लगाया वह उनके चरित्र का उज्ज्वल अध्याय है। स्मरण रखने की बात है कि जिस समय में रानडे ने कार्यारंभ किया था उस समय समाज-सुधार का, इस समय की अपेक्षा, बहुत ज्यादा विरोध होता था। उसी प्रकार साधारण राजनैतिक कार्यों पर भी सरकार की दृष्टि आज कल की अपेक्षा अधिक रहती थी। ऐसे समय में उन्होंने अनेक सामाजिक और

राजनैतिक संस्थाओं को स्थापित करके अपने बल, उत्साह और हिम्मत का परिचय दिया।

रानडे से सब से बनती थी। विरोधी से भी वे प्रेम का व्यवहार करते थे और उसको भी किसी न किसी काम में शरीक कर लेते थे।

इस पुस्तक में रानडे संबंधी बहुत सी कहानियाँ दी गई हैं। इनसे उनके पारिवारिक और 'प्राइवेट' जीवन का पता लगेगा, उनकी ईश्वर-भक्ति, विद्याभिरुचि, सादगी, निरभिमानता तथा परिश्रम के अनेक उदाहरण मिलेंगे। बड़े आदमियों की बहुत सी कहानियाँ झूठी भी बन जाया करती है। भक्त लोग अनजाने नोन मिर्च लगा देते हैं। इस पुस्तक में बहुत छाँट कर कहानियाँ लिखी गई हैं।

रानडे सरकारी नौकर थे, पर सरकारी काम को भी वे देश-सेवा समझ कर करते थे। बहुत से अफसर यह समझते हैं कि सरकारी काम के अतिरिक्त अन्य कार्य करनेवाले लोग अपने काम को अच्छी तरह नहीं कर सकते। यह विचार बिलकुल मिथ्या है। रानडे ने, जजी के काम को अन्य कामों के कारण कभी नहीं टाला। जो सरकारी नौकर देश-सेवा के काम में लगे रहते हैं वे शिक्षित समाज के स्वतंत्र नेताओं के यथार्थ भाव और उच्च-आदर्श को समझने लगते हैं और उन पर कनखी दृष्टि से नहीं देखते। यही नहीं बल्कि नेताओं के विचारों में जो कार्य-दक्षता के अभाव की त्रुटि रहती है, उसको सरकारी नौकर

अपने अनुभव से सुधार सकते हैं। सरकारी काम और देश का काम एक ही है। जहाँ दोनों में अंतर पड़ जाता है वहाँ कठिनाइयाँ शुरू हो जाती हैं।

समाज-संशोधक सहानुभूतिरहित, अभिमानपूर्ण, विदेशी चाल ढाल के अनुगामी और सर्वसाधारण से अलग रहनेवाले समझे जाते हैं। रानडे का चरित्र इस भ्रम को दूर करेगा, शिक्षित और अशिक्षितों में प्रेम का भाव उत्पन्न करेगा।

परमेश्वर की विचित्र लीला है। समुद्र के किनारे खड़े हो कर हम देखते हैं कि जब ज्वारभाटे के समय पानी ऊपर चढ़ने लगता है, बड़े वेग से एक लहर बहुत ऊँचे आ जाती है और फिर पीछे हो जाती है। इसके अनंतर जितनी लहरें आती हैं, वहाँ तक एक नहीं पहुँचती परंतु थोड़ी देर के बाद समस्त समुद्र वहीं आकर विराजमान हो जाता है और उससे भी आगे बढ़ने लगता है। इसी प्रकार संसार में कभी कभी ऐसे मनुष्य पहुँच जाते हैं जो अपने समकालीन लोगों से बहुत ऊपर चढ़े हुए मालूम होते हैं और जो ईश्वरीय आदर्शों का दिग्दर्शन करा देते हैं, पर थोड़े ही काल में साधारण मनुष्य भी सब से ऊँची मानुषिक लहर से ऊपर चढ़ने लगता है।

रानडे के विचार और कर्त्तव्य अपने समय से पूर्व के मालूम होते थे। लोग कह बैठते थे कि—"अभी इनकी आवश्यकता नहीं, इन बातों के लिये लोग तैयार नहीं।" पर आज सहस्रों नर नारी उन विचारों को साधारण समझते हैं और उनसे

आगे बढ़ने को तैयार हैं। महान् पुरुष भी देश और जाति के लिये ईश्वर की देन हैं।

इस जीवनचरित्र के लिखने में निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली गई है—

१ जी० ए० मानकर लिखित रानडेचरित्र (अंग्रेजी), दो भाग।

२ { आमच्या आयुष्यांतील कांहीं आठवणी (मराठी) रमाबाई रानडे कृत।
राव० ब० जस्टिस महादेव गोविंद रानडे (हिंदी) रामचंद्र वर्म्मा लिखित।

३ माधोराम कृत उर्दू चरित्र।

४ Religions and Social Reform by M. G Ranade compiled By M. B. Kalaskar.

५ Miscellaneous writings of the late Hon'ble Mr. Justice Ranade, Vol. I. Published by Ramabai Ranade.

६ Indian Social Reform. Edited by C. Y. Chintamani.

इनके अतिरिक्त सर नारायण चंदावरकर और श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने रानडे पर जो व्याख्यान दिए थे, उनसे और सोशल कानफरेंस की वार्षिक रिपोर्टों से भी सहायता ली गई है।

वक्तव्य ।

इस पुस्तक के पहले और दूसरे संस्करण के छपने के बीच का समय भारत की काया पलट का समय रहा है। यह समय जाग्रति का है। आज सरकारी नौकरी बुरी समझी जाती है। रानडे सरकारी नौकर थे तिस पर भी उनके जीवन का एक समय ऐसा था जब उनकी डाक खोल कर देख ली जाती थी। एक दूसरे अवसर पर उनके पिता उनकी डाक देख लिया करते थे। जब वे विद्यार्थी थे एक लेख लिखने के कारण उनकी वृत्ति रोक ली गई थी। आज चारों ओर शराब के विरुद्ध और अछूत जातियों के पक्ष में लोग जो आवाज उठा रहे हैं उसकी चर्चा करने की भी हिम्मत कोई नहीं करता था। रानडे और अन्य नेता भारत की इन कमजोरियों की ओर उस समय भी बराबर ध्यान दिलाते थे। प्रत्येक समय के अग्रगण्य नेता का ढंग निराला होता है। हर एक नेता राष्ट्रीयता की सड़क का मील का पत्थर है। जो नेता अब उत्पन्न हो रहे हैं उनके समय में उनसे पहले के लोगों की अपेक्षा राष्ट्रीयता के भाव अधिक जगतव्यापी हो रहे हैं। पर पहले के, अब के और भविष्य के सब अग्रगण्य नेता देश की माला के मनके हैं। सब में स्वदेश प्रेम, चरित्र बल आदि गुण थे और इसी लिए इन सब के जीवनचरित पढ़ना हमारे लिये परम आवश्यक है।

पहला संस्करण छपने के अनंतर मुझे श्रीमती रानडे के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने उनका पूना में सेवा सदन देखा। रानडे स्मारक इंसटिट्यूट में भी गया। जिस कन्या हाईस्कूल को रानडे ने खोला था वह भी देखा। पूना जाकर रानडे की अटल कीर्ति का अनुभव होता है।

विषय सूची ।

मुख्य मुख्य घटनाओं की तिथियाँ।

१८४२ (१८ जनवरी) जन्म।
१८५३ माता का देहांत।
१८५४ पहला विवाह (सखूबाई से)।
१८५६ बंबई पढ़ने गए।
१८५९ मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा पास की।
१८६१ लिट्ल गो परीक्षा पास की।
१८६२ साधारण बी० ए० और आनर्स परीक्षाएँ पास कीं।
,, इंदुप्रकाश के संपादक हुए।
१८६४ एम. ए की डिग्री मिली।
१८६५ बंबई विश्वविद्यालय के फेलो हुए।
१८६६ एल. एल० बी० परीक्षा पास की।
,, मराठी ट्रांसलेटर का पद मिला।
१८६७ कोल्हापुर के न्यायाधीश हुए।
१८६८ एल्फिस्टन कालेज के प्रोफेसर हुए।
१८७१ एडवोकेट की परीक्षा पास की।
,, बंबई के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रेट हुए।
,, (२८ जुलाई) बंबई के चौथे जज स्माल-काज-कोर्ट हुए।
,, (१६ नवंबर) पूना के कायमुकाम सब-जज हुए।
१८७३ सखूबाई का देहांत।
,, दूसरा विवाह (रमाबाई से)।
,, सब-जजी पर मुस्तकिल हुए।
१८७७ पिता का देहांत।
१८७८ पूना से नासिक को बदला।

१८७९ धूले को बदली।
१८८० डिस्ट्रिक् जज के पद पर नियुक्ति।
१८८१ बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए।
,, फिर पूना से सदराला हुए।
,, पूना और सतारा के असिस्टेंट स्पेशल जज हुए।
१८८४ पूना के खफीफा जज हुए।
१८८५ स्पेशल जज हुए।
,, डेकन कालेज में न्याय के अध्यापक (जजी के साथ साथ) हुए।
,, बंबई की लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी (जजी के साथ साथ) मिली।
१८८६ फिनांस-कमेटी के मेंबर हुए।
१८८८ सी० आई० ई० की उपाधि मिली।
,, फिर स्पेशल जजी पर नियुक्ति।
१८९० फिर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी मिली।
१८९३ तीसरी बेर लेजिस्लेटिव कौंसिल की मेंबरी मिली।
,, (२३ नवंबर) हाईकोर्ट की जजी मिली।
१९०० (४ जून) वसीयत नामा लिखा।
१९०१ (८ जनवरी) अस्वस्थ होने के कारण ६ मास की छुट्टी ली।
,, (१६ जनवरी) स्वर्गवास।

महादेव गोविंद रानडे

(१) बाल्यावस्था ।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।'

रानडे का जन्म नासिक जिले के निफाड स्थान में माघ शुक्ल ६ शाके १७६३ अर्थात् १८ जनवरी १८४२ को मंगलवार संध्या समय हुआ था, इनका नाम महादेव रक्खा गया । इनके पिता गोविंदराव भाऊ कोल्हापुर रियासत में कई उच्च पदों पर रह कर पेंशन पाते थे। जिस समय महादेव का जन्म हुआ इनके पिता निफाड में 'कारकुन' थे। गोविंदराव का देहांत सन् १८७७ में हुआ ।

गोविंदराव के पिता अर्थात् महादेव के दादा अमृतराव तात्या संस्कृत के बड़े पंडित थे। वे भागवत बाँचते थे और ज्योतिष भी जानते थे । महादेव की जन्मपत्री तात्या जी ने स्वयं बनाई थी । तात्या जी ने पुरुषसूक्त की टीका की थी जिसको पीछे से रानडे ने छपवाया था ।

अमृतराव तात्या के पिता भास्करराव उपनाम आप्पा जी भी अपने समय में बड़े प्रसिद्ध थे। पीछे जब वे पल्टन के

अफ़सर हुए तो उन्होंने मुसलमानों से एक क़िला जीत कर अपने राजा को दे दिया। इसके अनंतर सांगली की ओर से राजदूत नियुक्त होकर वे अँग्रेज़ी सरकार में रहने लगे। राजा ने इनको जागीरें दीं। ये ६५ वर्ष की अवस्था में अंत समय तक ईश्वर की उपासना करते हुए परलोक को सिधारे।

अप्पा जी की माता कृष्णाबाई के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उनकी संतान बचती नहीं थी। इस पर उन्होंने बारह वर्ष तक अनेक व्रत किए। वे प्रति दिन पीपल और गाय की परिक्रमा करतीं और गोमूत्र में गूँधे हुए आटे की रोटी खातीं।

रानडे के पूर्वजों का जो संक्षिप्त वृत्तांत ऊपर लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि जिस परिवार में वे उत्पन्न हुए थे उसमें कई पुरुष पराक्रमी, धर्मनिष्ठ और शास्त्रवेत्ता थे।

बाल्यावस्था में रानडे बड़े शरमाऊ और बोदे मालूम होते थे। वे अपने पिता और दादा से दूर रहते थे। उन्होंने अपने दादा अमृतराव से सब से पहले २२ वर्ष की अवस्था में एम. ए. पास करने के उपरांत वार्तालाप किया था। औरों से भी वे बहुत कम बात चीत करते थे। एक बेर इनकी माता गोपिकाबाई बैलगाड़ी पर इनको कोल्हापुर ले जा रही थीं। रात्रि का समय था। अनुमान दो बजा था। मार्ग ऊँचा नीचा था। गाड़ी को धक्का लगने से ये नीचे गिर पड़े। सब लोग सोए हुए थे, गाड़ी आगे की ओर चली जा रही थी। किसी को इस घटना की सूचना भी नहीं हुई। रानडे की अवस्था उस समय ढाई

वर्ष की थी। भाग्यवश उनके चाचा जो घोड़े पर सवार थे, किसी कारण पिछड़ गए थे। जब रानडे ने उनके घोड़े की टाप सुनी तब उन्होंने अपने चाचा को बुलाया। उनके चाचा ने उनको उठा कर पहचाना और अपने साथ लेजाकर उनकी माता के सुपुर्द किया।

बचपन में रानडे के परिवार के साथ आबा साहेब कीर्तने का भी परिवार रहता था। कीर्तने कुल के बालक बड़े होशियार थे। वे बात चीत में बड़े चतुर थे। स्कूल में जब वे परीक्षा पास करते तब घर आकर बड़े प्रसन्न होकर सब से कहते थे, परंतु रानडे ने कभी अपनी परीक्षा का हाल घरवालों को नहीं सुनाया। एक दिन घरवालों ने उनको उलहना दिया कि तुम अपने पास होने का हाल किसी को नहीं कहते। उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें कहने की कौन बात है, जब अभ्यास करते हैं तब पास ही होंगे। इसमें विशेषता ही क्या है?

इनकी माता बड़ी चिंता में रहती थीं। वे कहा करती थीं कि इसके लिये १०) महीना भी कमाना कठिन है।

इनका मनोरंजन यह था कि जो कुछ ये पढ़ कर आते थे उसको घर की दीवार पर या जमीन में धूल पर लिखा करते थे।

रानडे को जो बात एक बार समझा दी जाती थी उसी के अनुसार वे सब काम करते थे, जो कार्य वे एक दिन करते थे प्रायः प्रति दिन उसके करने की चेष्टा करते थे। एक ही रास्ते

से वे रोज जाते थे। पाठशाला से आने पर उनको जो भोजन मिलता था उसमें थोड़ा सा घी रहता था। एक दिन घर में घी नहीं था। इन्होंने उसके लिये जिद्द की। इस पर इनकी माँ ने घी के बर्तन में पानी डाल कर और उसको गरम करके इनके भोजन में डाल दिया। इन्होंने प्रसन्नतापूर्वक भोजन कर लिया। इनकी बहिन ने हँस कर कहा कि महादेव को घी के बदले पानी दे दिया, पर इन्होंने इसकी कोई पर्वाह नहीं की।

ये स्नान करते समय पहला लोटा सिर पर डालते ही पुरुषसूक्त का पाठ करते थे। कोई बीच में बोलता तो वे बुरा मानते थे। एक दिन ये संध्या कर रहे थे कि इनके चाचा ने बीच में रोक कर इनसे संध्या के संबंध में कुछ प्रश्न पूछे। प्रश्नों का ठीक उत्तर देकर आपने अपने चाचा से पूछा कि बतलाइए मैंने संध्या कहाँ से छोड़ी थी। उन्होंने कहा कि तुम फिर से संध्या आरंभ कर दो, पर रानडे ने एक न सुनीं। अंत में उनके चाचा ने अटकलपच्चू बतला दिया कि यहाँ से तुमने छोड़ी थी। उन्होंने वहीं से फिर संध्या करनी आरंभ कर दी।

इनकी माता त्योहारों पर इनको आभूषण पहनाती थीं, पर ये गहना पहनना अच्छा नहीं समझते थे। वे गोप और कड़ों को तो कपड़ों से ढक लेते थे और अँगूठी के नगीने को मुट्ठी बंद करके छिपा लेते थे।

एक दिन इनकी माँ ने इनको बरफी दी। उस समय मजदूरनी का लड़का सामने खड़ा था, इसलिये उन्होंने इनके दूसरे

हाथ में आधी बरफी देकर कहा कि एक तू खा ले और दूसरी उस लड़के को दे दे। इन्होंने बड़ा टुकड़ा उस लड़के को दे दिया और छोटा आप खा लिया। माँ ने कहा—"अरे, उस लड़के को तो छोटा टुकड़ा देना था।" महादेव ने कहा—"तुम ने तो इस हाथ का टुकड़ा उसे देने के लिये कहा था, इसलिये मैंने वही दे दिया।" कोई दूसरा बालक होता तो बड़ी बरफी आप खा जाता, चाहे उसकी माँ की आज्ञा इसके विपरीत ही होती। पर रानडे को तो दूसरों ही के लिये जीना था।

सन् १८५३ में इनकी माता का देहांत हुआ। उस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी।

---

(२) शिक्षा।

"Education has no more serious mission to perform than to inculcate love for truth and wage war on credulity and error."

—Compayre.

कोल्हापुर में उस समय पांडोबा तात्या द्विवेकर एक प्रसिद्ध अध्यापक थे। रानडे ने मराठी की प्रारंभिक शिक्षा इन्हीं से पाई। उन्हीं दिनों कोल्हापुर रियासत के रेजिडेंट के हेड क्लार्क नाना मोरोजी थे जो आगे चलकर बंबई के प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए और जिनको रावबहादुर की उपाधि मिली। इन्होंने कोल्हापुर में एक अंग्रेजी स्कूल खोला था जिसके प्रथमाध्यापक

कृष्णराव चापाजी थे जिन्होंने इँगलैंड में प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर हेनरी ग्रीन से शिक्षा पाई थी। मराठी पढ़कर रानडे इसी स्कूल में दाखिल हुए। यहाँ अंग्रेजी के बहुत थोड़े क्लास थे। इसलिये रानडे और उनके साथी कीर्तने चाहते थे कि बंबई जाकर पढ़ें, परंतु रानडे की अपने पिता से कहने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। अंत में इन्होंने कीर्तने के पिता से कहा और कीर्तने ने इनके पिता से। रानडे के पिता कहते थे कि मेरा लड़का बड़ा बोदा है, बंबई में अकेला नहीं रह सकेगा। परंतु लड़कों ने बार बार कहना शुरू किया और बंबई जाकर पढ़ने के लिये वे आग्रह करने लगे। अंत में लड़कों की बात मानी गई और वे सब सन् १८५६ में बंबई के एलफिंस्टन इंस-टीट्यूशन के उस विभाग में दाखिल हुए जिसको अब 'एल्फि-स्टन हाई स्कूल' कहते हैं। उस समय रानडे की अवस्था १४ वर्ष की थी। स्कूल में भर्ती हुए अभी तीन ही महीने हुए थे कि इनके अध्यापक कैखुसरो हरमुसजी अल्पवाला ने जो कई वर्षों के उपरांत सूरत में जज और खाँ बहादुर हुए, इनको फर्स्ट क्लास में चढ़ा दिया। सन् १८५८ में ये एल्फिस्टन कालेज में पढ़ने लगे और इनको १०) फिर १५) और २०) मासिक छात्रवृत्ति मिलने लगी। बंबई विश्वविद्यालय की पहली मैट्रि-क्यूलेशन परीक्षा सन् १८५९ में हुई। उस परीक्षा में केवल २१ विद्यार्थी पास हुए थे। उनमें रानडे भी थे। उस समय कुछ विद्यार्थी 'दक्षिणा फेलो' चुने जाया करते थे जो अपना पढ़ना

भी जारी रखते थे और जिनको नीचे की श्रेणी में पढ़ाना पड़ता था। फेलो लोगों को कुछ मासिक वेतन मिलता था।

पेशवा सरकार ने संस्कृत के पंडितों और अन्य विद्वानों के सहायतार्थ कुछ धन अलग कर दिया था। उसी धन से अंग्रेजी राज्य में फेलो लोगों की सहायता होने लगी। रानडे भी मैट्री-क्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जूनियर दक्षिणा फेलो चुने गए और इनको ६०) मासिक मिलने लगा। तीन वर्ष पीछे ये सीनियर दक्षिणा फेलो १२०) मासिक पर नियुक्त किए गए और तीन वर्ष तक इस पद पर रहे। सन् १८६१ में उन्होंने लिटिल-गो की परीक्षा और १८६२ में बी० ए० की परीक्षा पास की। बी० ए० आनर्स की परीक्षा भी इन्होंने उसी वर्ष इति-हास और अर्थशास्त्र में दी और बड़ी योग्यता से प्रश्नों का उत्तर दिया। इसको पास करने के लिये इनको एक स्वर्णपदक और २००) की पुस्तकें पारितोषिक में मिलीं। इसके अतिरिक्त कालेज के प्रिंसपल, अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मिलकर इनको ३००) की एक सोने की घड़ी दी। उस समय आनर्स की परीक्षा में केवल पाठ्य पुस्तकों ही से प्रश्न नहीं पूछे जाते थे, बल्कि इस प्रकार के प्रश्न भी आते थे कि जिनसे विद्यार्थी की बुद्धि और गवेषणा की जाँच हो। तीन घंटे के अंदर विद्यार्थियों को प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते थे और चार दिन तक परीक्षा होती थी। पढ़ी हुई साधारण बातों का ही तीन घंटे में उत्तर देना कठिन होता है, पर जब उनके साथ नवीन बातें पूछी जाँय तब तो उन

सब का उत्तर देना साधारण विद्वता का काम नहीं है। अब तक सब परीक्षाएँ इन्होंने प्रथम श्रेणी में पास की थीं, पर आनर्स परीक्षा दूसरी श्रेणी में पास की।

सन् १८६४ में रानडे को एम० ए० की डिग्री बिना परीक्षा दिए ही मिल गई क्योंकि उन दिनों यह नियम था कि जो आनर्स में बी० ए० पास करता था वह अपने मैट्रीक्यूलेशन पास करने की तिथि से ५ वर्ष के उपरांत एम० ए० हो जाता था।

रानडे की आँखे बाल्यावस्था से ही कमजोर थीं। अधिक पढ़ने से और भी कमजोर हो गईं। बी० ए० की परीक्षा देने के उपरांत आँखों का रोग बढ़ गया। ६ महीने तक इनको हरी पट्टी बाँधनी पड़ी। तिस पर भी इन्होंने पढ़ना पढ़ाना नहीं छोड़ा।

सन् १८६६ में इन्होंने एलएल० बी० (वकालत) की परीक्षा दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया। नियमानुसार उन्होंने आनर्स-इन-ला की परीक्षा भी उसी साल दे दी और उसको भी प्रथम श्रेणी में पास किया।

शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर की सन् १८६२-६३ की रिपोर्ट में उन पुस्तकों के नाम दिए हैं जो इन्होंने बी० ए० आनर्स के लिये पढ़ी थीं। १८६५-६६ की रिपोर्ट में एलएल० बी० की उन पुस्तकों के नाम छपे हैं जो इनको पढ़नी पड़ी थीं।

रानडे दक्षिणा फेलो थे, इस कारण इनको इस विषय की रिपोर्ट देनी पड़ी थी कि इन्होंने किन पुस्तकों का अवलोकन किया था। इस सूची को देखने से मालूम होता है कि इतिहास

की ६ और अर्थशास्त्र की १० पुस्तकें जो उन्होंने पढ़ी थीं वे कितने महत्व की हैं। केवल इतिहास की पुस्तकों के सब मिलाकर ३४००० पृष्ठ से अधिक होते हैं।

इसी प्रकार इन्होंने कानून की परीक्षा के लिये ४८ पुस्तकें पढ़ीं जिनमें से कई पुस्तकों के दो भाग हैं और एक के आठ।

बी० ए० की परीक्षा में अंग्रेजी और इतिहास के जो उत्तर इन्होंने दिए थे उनको उस समय के डाईरेक्टर मिस्टर हावर्ड जो परीक्षक भी थे, अपने साथ इँगलैंड ले गए थे, इसलिये कि वे वहाँ की अपनी परिचित विद्वन्मंडली को दिखलावें कि एक हिंदू विद्यार्थी में किस उच्च श्रेणी की विद्वत्ता है।

एलफिंस्टन कालेज की जिसमें वे पढ़ते थे, उस समय की प्रायः प्रति वर्ष की रिपोर्ट में इनके परिश्रम, विद्यानुराग और गवेषणाशक्ति की प्रशंसा की गई है। सन् १८६२-६३ की रिपोर्ट में उस समय के प्रिंसपल सर ए. ग्रैंड ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—"दक्षिणा के फेलो लोगों में विद्याभिरुचि, सत्यभाषण और आत्मगौरव के गुण हैं। वे बड़े बड़े पद पाने की योग्यता रखते हैं। जहाँ तक मेरा अनुभव है, इससे अधिक कोई बात असत्य नहीं हो सकती कि भारतवासी अँग्रेजी शिक्षा पाकर बिगड़ जाते हैं। मैंने अपने कालेज में सदैव यह देखा है कि ज्यों ज्यों विद्यार्थियों में शिक्षा की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों वे अधिक विश्वासपात्र और प्रतिष्ठित होते जाते हैं।"

---

(३) मित्र-मंडली

पाठशालाओं के विद्यार्थियों में जो घनिष्ट मित्रता हो जाती है वह बहुधा जीवन पर्यंत रहती है। हर एक विद्यार्थी अपनी रुचि, प्रकृति और अपने स्वभाव के अनुसार मित्र बना लेता है। रानडे से भिन्न प्रकृति के लोगों से भी सहज में मैत्री हो जाती थी और उनके लिये वे आत्म-समर्पण तक करने को सर्वदा तत्पर रहते थे।

काल पाकर उनके कतिपय मित्र इस देश में उच्च पदाधिकारी अथवा अपनी विद्या और देश-हितैषिता के कारण विख्यात हुए। जब वे कोल्हापुर के अँग्रेजी स्कूल में पढ़ते थे तब महाराजा होल्कर के भूतपूर्व दीवान रायबहादुर विनायक जनार्दन कीर्त्तने, पूना हाई स्कूल के हेड मास्टर, स्वर्गवासी महादेव मोरेश्वर कुंटे बी. ए. और उसी स्कूल के दूसरे हेड मास्टर विट्ठल नारायण पाठक एम. ए. उनके साथ पढ़ते थे। इसके अनंतर बंबई में आकर मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा पास करने के उपरांत जब वे जूनियर दक्षिणा फेलो हुए तब उनके मित्र रामकृष्ण गोपाल भांडारकर और जवारीलाला उमियाशंकर याज्ञनिक भी इसी पद पर नियुक्त किए गए। जब उन्होंने एलएल. बी. की परीक्षा दी तो उनके साथी बाल मंगेश वागले थे।

इनके अतिरिक्त रावबहादुर शंकर पांडुरंग पंडित उनके परम मित्रों में से थे। एक बेर बंबई सरकार रावबहादुर

पंडित से अप्रसन्न हो गई थी। श्रीमती रमाबाई रानडे ने उसका कारण यह लिखा है कि जिस दिन पूना में स्त्रियों का हाई स्कूल खुला था, उस दिन एक विशेष उत्सव किया गया था जिसमें उस समय के गवर्नर, महाराजा बड़ोदा, ली वारनर तथा अन्य अधिकारी उपस्थित थे। संयोग से बड़ोदाधीश समय से कुछ पहले ही उठ गए। रावबहादुर पंडित इस स्कूल के प्रबंधकर्त्ता थे। समय अधिक लग जाने के कारण उन्होंने प्रोग्राम से लड़कियों के कुछ गीत कम कर दिए। इसपर ली वारनर साहब असंतुष्ट हो गए और उन्होंने इसका कारण राज्यभक्ति का अभाव बतलाया। तीन चार दिन के अंदर उन्होंने सरकारी आज्ञा भिजवा दी कि रावबहादुर पंडित प्रबंधकर्त्ता के पद से हटा दिए जाँय। श्रीयुत पंडित को इस बात से बड़ा दुःख हुआ। उन्हीं दिनों रानडे सरकारी काम से कई मास के लिये शिमला जा रहे थे। अपने मित्र का दुःख उनको असह्य मालूम हुआ। आग्रहपूर्वक वे उनको साथ ले गए और अनेक प्रकार से उनको प्रसन्न करने की चेष्टा करते रहे। कभी उनसे दिनभर के काम का हिसाब लेते, कभी उनसे हास्य विनोद किया करते। शिमला में एक मेम से कहकर उन्होंने उनको फ्रेंच सिखलाने का प्रबंध कर दिया। जब इस प्रकार उनकी उदासी कम हो गई तब तत्कालीन वाइसराय लार्ड डफरिन से उनकी दो तीन बार भेंट करा दी।

एक बेर यही शंकर पांडुरंग पंडित पोरबंदर में बहुत बीमार

हुए। डाक्टरों ने इनको बंबई में रहने की सलाह दी। उस समय रानडे बंबई में थे। शंकर पांडुरंग को बंबई में कोई उपयुक्त बँगला रहने के लिये नहीं मिलता था। रानडे ने अपने यहाँ उनको परिवार सहित रहने को स्थान दिया। वे रात दिन उनकी चिंता में रहते थे। कभी कभी रात में कई बेर उनको देखने जाते और रातभर जागते रहते। इसी बीमारी में रानडे के गृह पर ही उनकी मृत्यु हो गई जिसपर रानडे को उतना ही दुःख हुआ कि जितना किसी को अपने सगे भाई अथवा बेटे के मरने पर होता है।

डाक्टर भांडारकर से उनकी मित्रता बड़ी घनिष्ट थी। सन् १८८१ में जब वे बंबई के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट हुए तो उस समय डाक्टर भांडारकर बंबई में संस्कृत के अध्यापक थे। रानडे उनके बँगले के पास ही ठहरे थे। दोनों परिवार के लोग प्रति दिन मिलते और एक दूसरे से अत्यंत प्रेम का बर्ताव करते।

भांडारकर अपने ढंग के एक ही पुरुष हैं। संस्कृत के अद्वितीय पंडित होने पर भी वे समाजसंशोधन और धार्मिक सुधार के बड़े पक्षपाती हैं। इन्होंने अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अनुसंधान किया है, दक्षिण देश का एक प्राचीन इतिहास शिलालेखों, ताम्रपत्रों और प्राचीन सिक्कों के आधार पर लिखा है और अनेक पाठ्य पुस्तकें और अन्य ग्रंथ लिख कर देश की सेवा की है। सन् १८९४ में जब डाक्टर भांडारकर बंबई विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर थे, इन्होंने कन्वोकेशन के व्याख्यान

में नवशिक्षित लोगों की अधिक मृत्यु का कारण बालविवाह बतलाया था। उस समय उनमें और रानडे में अत्यंत प्रेमपूर्वक लेखबद्ध वादविवाद हुआ था। रानडे का पक्ष यह था कि अधिक मृत्यु का केवल बालविवाह ही एकमात्र कारण नहीं हो सकता। उन्होंने अपनी सम्मति दी थी कि भारतवासियों की आर्थिक दुर्दशा भी इसका एक महान् कारण है। यह शास्त्रार्थ पढ़ने योग्य है।

वामन आबाजी मोड़क भी रानडे के परम मित्रों में से थे। इन्होंने उनके साथ ही बी० ए० पास किया था और वे कई स्कूलों में हेड मास्टर रहने के अनंतर बंबई एलफिंस्टन हाई स्कूल के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। इनसे पहले इस पद पर अँग्रेज हुआ करते थे। इन्होंने इस कार्य को ऐसी योग्यता से किया कि उनको सी. आई. ई. की उपाधि दी गई। समाज-संशोधन और धार्मिक सुधार के कामों में वे रानडे और भांडारकर के साथी थे। सन् १८९३ में पूना प्रार्थना-समाज के उत्सव पर वे व्याख्यान दे रहे थे कि जब उनको लकवा मार गया और इसी रोग में वे सन् १८९७ में मर गए। उस समय उनकी अवस्था ६१ वर्ष की थी।

बाल मंगेश वागले भी उनके परम मित्रों में से थे। इन्होंने उनके साथ ही एम० ए०, एलएल० बी० की परीक्षा पास की थी। वागले ने वकालत आरंभ की, पर बहुत न चली। कुछ दिन तक वे स्माल काज कोर्ट के जज रहे। जब दादाभाई

नौरोजी भूतपूर्व महाराजा बड़ोदा के दीवान बनाए गए थे उस समय वागले महाशय वहाँ की हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस हुए, परंतु दादाभाई के साथ ही उन्होंने भी बड़ोदा की नौकरी छोड़ दी और फिर वकालत आरंभ की। ये भी समाज-संशोधक और प्रार्थना-समाज के उन्नतिदायक लोगों में से थे।

सर फिरोजशाह मेहता रानडे के समकालीन थे। सन् १८६४ में जब फिरोजशाह शिक्षा प्राप्त करने इंगलैंड गए उनके कालेज के विद्यार्थियों ने उनकी बिदाई पर अभिनंदन पत्र दिया था उस पर अन्य विद्यार्थियों के साथ रानडे और बालमंगेश वागले के हस्ताक्षर भी थे।

सन् १८६९ में मेहता ने एक व्याख्यान में सरकार की उस नीति का खंडन किया जिसके अनुसार प्राइवेट स्कूलों और कालेजों को सरकारी धन से सहायता दी जाती है। उसी स्थान में रानडे ने इस नीति की प्रशंसा की। मेहता का पक्ष यह था कि सरकार समझती है मानों भारत के धनाढ्य लोगों में विद्याप्रचार की भूख बढ़ रही है और वे धन देने को तय्यार बैठे हैं। रानडे ने कहा जितना सर्वसाधारण से मिल सकेगा उतने ही अंश में विद्योन्नति होगी इसलिए इस प्रणाली को चलाकर सरकार ने उपकार ही किया है। १८८६ में मेहता ने बंबई में ग्रैज्युएट्स एसोसिएशन स्थापित किया और उसके सब से प्रथम सभापति रानडे चुने गए। सन् १८९३ में रानडे और मेहता दोनों एक ही समय में प्रांतिक कौंसिल के सभा-

सद थे और जनता का पक्ष लेते थे। दोनों बंबई विश्वविद्यालय की समितियों में भी साथ ही थे। दादाभाई और रानडे दो ही महापुरुष ऐसे थे जिनके प्रति मेहता श्रद्धा का भाव रखते थे।

इन महाशयों के अतिरिक्त रानडे के अनेक अन्य मित्र भी थे। इनसे हर प्रकार के लोगों से मित्रता हो जाती थी। मत मतांतर और जातिभेद के कारण इनके मैत्री भाव में कभी अंतर नहीं पड़ता था। भारतवर्ष का कोई प्रांत ऐसा नहीं था जहाँ इनके मित्र न हों। ये सब लोगों से सर्वदा पत्र व्यवहार रखते थे। जहाँ कहीं किसी कमेटी इत्यादि में कोई उत्साहपूर्ण नवयुवक इनको मिल जाता जो अच्छी वक्तृता देता अथवा जो सच्चरित्र और विचारशील प्रतीत होता, तो वे तुरंत उससे जान पहिचान कर लेते और पत्रव्यवहार द्वारा अथवा अवसर पाकर मिलते रहने से उससे मित्रता बढ़ा लेते थे।

---

(४) विवाह और गार्हस्थ्य जीवन।

रानडे का पहला विवाह सन् १८५४ ई० में जब उनकी बारह वर्ष की अवस्था थी इचलकरंजी के राजा की साली सखू-बाई से हुआ था। रानडे के पिता गोविंदराव बालविवाह को बुरा नहीं समझते थे, परंतु वे स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे। रानडे की माता के मरने पर गोविंदराव ने दूसरा विवाह किया था। इस-लिये उन्होंने अपनी स्त्री, रानडे की विधवा बहिन और सखूबाई तीनों को मराठी भाषा पढ़ाने का प्रबंध एक साथ ही कर दिया।

सखूबाई बड़ी पतिव्रता थी। उसको अपने पति की सेवा का बड़ा ध्यान रहता था। उसका स्वभाव बड़ा सरल था। सब लोगों को वह प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी, परंतु दुर्भाग्य से ३ अक्तूबर सन् १८७३ में पूना में छई रोग से उसका देहांत हो गया। उस समय रानडे पूना में सबजज थे। सखू-बाई की मृत्यु से उनको बड़ा दुःख हुआ। उसकी बीमारी की अवस्था में उन्होंने रातों जाग कर उसकी सेवा सुश्रूषा की थी।

उसकी मृत्यु के अनंतर आप रात को तुकाराम के अभंग पढ़ कर अपना समय काटते और कभी कभी पढ़ते हुए प्रेम में गद्गद् हो जाते। प्रायः एक वर्ष तक सखूबाई का ज़िक्र आते ही उन की आँखों में जल आ जाता। इसी समय उन्होंने एक मित्र को जिनके घर में किसी की मृत्यु हो गई थी, सहानुभूति प्रगट करते हुए यह लिखा था,—"मुझे भी कठिन दुःख हुआ है। कभी कभी ऐसी दुर्घटनाएँ बुद्धि को ऐसा चक्कर में डाल देती हैं कि परम भक्त के चित्त में भी पापमय निराशा और धर्मद्रोही विचार उत्पन्न होने लगते हैं। तुम्हारे अंदर धर्म का अंकुर दृढ़तापूर्वक जमा हुआ है, इस लिये इस क्षणभंगुर दुःख से तुम्हारा विश्वास नहीं डगमगाएगा। ऐसे भाव जब चित्त में उठें तो किसी मित्र को उपदेश देना उचित नहीं। परंतु दुःख से पीड़ित होकर हृदय को इस ज्ञान की प्राप्ति से संतोष होता है कि यह संसार फुलवारी नहीं है।"

उनका दुःख इस बात से और भी बढ़ गया कि पत्नी के

मरने के एकही महीने के अंदर उनके पिता ने उनके दूसरे बिवाह की बात चीत शुरू कर दी। पिता को मालूम था कि रानडे सुधारक हैं, इस लिये संभव है कि किसी विधवा से विवाह कर लें। इधर चारों ओर उनके मित्रों को इस बात की खबर लग गई। उनके पास पत्र पर पत्र आने लगे। उनके पिता को इस बात का खटका पहले ही से था, इस लिये उन्होंने चोरी से इनकी डाक खोल कर पढ़नी शुरू की। मित्रों के पत्रों में लिखा रहता था कि परीक्षा का समय है, पिता जी से स्पष्ट कह देना चाहिये कि मैं पुनर्विवाह करूँगा, इत्यादि। ऐसे पत्र प्रायः बंबई से आते थे। इस लिये उनके पिता बंबई के पत्र अपने पास रख लेते और बाकी डाक उनके पास भेज देते।

संयोग से उसी समय उनके पिता के एक मित्र अपनी कन्या रमाबाई के लिये बर ढूँढ़ने पूना आए। इन दोनों में विवाह संबंधी बातें हुईं। गोविंदराव ने अपनी ओर से एक विद्वान कर्मनिष्ठ और शुद्धाचारी सज्जन को लड़की के देखने के लिये भेजा। उन्होंने लड़की को पसंद कर लिया और दूसरे दिन रमाबाई को लेकर उसके पिता पूना पहुँचे। रानडे को इन बातों की कुछ भी खबर नहीं थी। जब गुप्त रीति से उनके पिता ने विवाह का सब प्रबंध कर लिया तब वे रानडे के पास गए और इस प्रकार बातचीत हुई—

"तुम्हारे लिये आवश्यक है कि तुम अब दूसरा विवाह कर लो।"

"मैं अब विवाह नहीं करूँगा ।"

"क्यों ?"

"मैं छोटा नहीं हूँ, मेरी अवस्था ३२ वर्ष की हो चली ।"

"परंतु सारी अवस्था विचारपूर्वक बिताना कठिन है ।"

"कुछ भी कठिन नहीं । बहिन दुर्गा मुझसे भी छोटी है । वह २२ वर्ष की ही अवस्था में विधवा हो गई थी । आपको उसकी कुछ भी चिंता नहीं, परंतु मेरे विवाह के लिये आप आग्रह करते हैं । आपको लड़की से कम स्नेह नहीं है ।"

"मुझे डर है कि कहीं बुढ़ापे में तुम्हारे कारण मेरी दुर्दशा न हो ।"

"मेरे कारण आपको कष्ट नहीं पहुँच सकता ।"

"कहीं तुम किसी विधवा से विवाह न कर लो ।"

"यदि इससे आपको संतोष हो जाय तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विधवा से विवाह नहीं करूँगा ।"

"परंतु बिना ब्याहे रहना ठीक नहीं ।"

"यदि आप दुर्गा बहिन का व्रतपूर्वक रहना उचित समझते हैं तो विश्वास रखिए, मैं भी व्रतपूर्वक रहूँगा ।"

"तुमने अब तक मेरी बात नहीं टाली ।"

"मैं आपकी आज्ञा सदा मानने के लिये तैयार हूँ, परंतु आपसे प्रार्थना है कि आप मेरा कथन भी सुनें ।"

इसी प्रकार दोनों में बहुत देर तक बातचीत हुई । रानडे विवाह करने से बराबर इनकार करते गए, पर उनके पिता ने

एक न सुनी और उनके पास से उठ गए। उसी दिन उन्होंने स्वयं जाकर लड़की को देखा और एकादशी का मुहूर्त्त निश्चय कर लिया। सायंकाल वे लड़की के पिता को साथ लेकर रानडे के पास गए। रानडे को उस समय तक कुछ भी भेद मालूम नहीं था। इन लोगों के जाने पर उन्होंने खड़े होकर आदर किया। गोविंदराव ने उनका परिचय देकर सब कथा कह सुनाई। रानडे ने उनसे पूछा कि "आपने क्या समझ कर अपनी कन्या मुझे देने का विचार किया है। मैं सुधारक दल में समझा जाता हू। मैं विधवाविवाह का पक्षपाती हूँ। मुझे विलायत भी जाना है और वहाँ से आकर मैं प्रायश्चित्त भी नहीं करूँगा। इसके अतिरिक्त देखने में तो मेरा शरीर हृष्ट पुष्ट मालूम होता है पर मेरी आँखें और कान खराब हैं।"

कन्या के पिता ने कहा—"भाऊ साहब (गोविंदराव) ने ये सब बातें मुझसे पहले ही से कह दी हैं, तिसपर भी मैंने कन्या आप ही को देने की प्रतिज्ञा की है।"

तीनों आदमियों में बहुत देर तक बातें हुईं, पर उनके पिता ने एक न सुनी। विवश होकर रानडे ने कहा कि "आप और सोचिए, मैं सब बातें आप ही पर छोड़ देता हूँ। मुझे छः महीना और समय दीजिए।" इस पर वे दोनों उठकर चले गए। थोड़ी देर पीछे गोविंदराव फिर आए। रानडे ने उनको अत्यंत दुःखी देखकर कहा—"मैं तो उनसे कह चुका हूँ कि

अभी छः महीना विवाह नहीं करूँगा और सब बातें आप पर छोड़ दी हैं।" उनके पिता ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया और वे घंटों सोच विचार में डूबे रहे। रानडे का हृदय बड़ा कोमल था। वे किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। पिता की यह अवस्था देखकर वे भी व्याकुल थे। उन्होंने अपने पिता से कहा—"आप मेरी एक भी बात चलने नहीं देते।" इसपर उनके पिता ने उत्तर दिया—"मैंने तुम्हारी कही हुई बातों पर खूब विचार किया। मुझे तुमपर विश्वास भी है। पर मेरी इस समय वृद्धावस्था है। मेरा अंत समय अब आ रहा है। तुम नवयुवक हो, अभी नया जोश है। गत १५ दिन के अंदर तुम्हारे बंबई के मित्रों ने जो पत्र तुमको भेजे हैं उनको मैंने अपने पास रख लिया है। उनको पढ़कर मैं तुम्हारी बातें मानने के लिये तैयार नहीं। मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम्हारे मित्र बराबर तुम्हारा ध्यान भरते रहेंगे, जो बातें वे कहेंगे वे तुम्हारे भी विचारों और वय के अनुकूल होंगी। तुम स्वतंत्र भी हो, इसलिये नए विचार जल्दी जोर पकड़ लेंगे। मैं छः महीने की अवधि भी नहीं दे सकता। इसमें हमारे परिवारिक सुख में अंतर पड़ेगा। तुम समझदार हो। मैं इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यदि विवाह न हुआ तो लड़की को कैसे लौटा सकूँगा? इसमें मेरा तो अपमान होगा ही, पर मुझे ख्याल लड़की के पिता का है। मेरा तुम्हारा संबंध तो अब टूट ही जायगा। मैं यहाँ से अब चला जाऊँगा। जो ईश्वर की

इच्छा होगी वही होगा !" जब ये बातें हो रही थीं तब दुर्गा उपस्थित थी।

रमाबाई के घराने के लोग वीर और धार्मिक थे। इनकी माता बड़ी पतिव्रता और दयावती थीं। वे बड़ी सुशिक्षिता भी थीं। उनको चिकित्सा-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। बड़ी बड़ी दूर से उनके पास रोगी आते थे और वे बड़े प्रेम से उनको औषधि दिया करती थीं। संध्या समय वे अपने सब बच्चों को जमा करके पुराण की कथा सुनाया करतीं। रमाबाई लिखती हैं "नई बातें जो अब मैं पढ़ती और सुनती हूँ प्रायः भूल जाया करती हूँ। परंतु उन शिक्षाओं को जो मेरी माता मुझे बाल्यावस्था में देती थीं, अब तक मैं नहीं भूली।"

गोविंदराव ने रानडे से विवाह करने के लिये एक धार्मिक कुल की कन्या को चुना। दिसंबर १८७३ में रानडे का रमाबाई से विवाह हो गया। विवाह वैदिक रीति से किया गया। पीछे से जो कुछ लौकिक रीति रस्में हुईं, उनमें वे शरीक नहीं हुए। विवाह के उपरांत पति-पत्नी साथ भोजन करते हैं। रानडे ने यह भी नहीं किया। वे विवाह के स्थान से पैदल घर आकर अपना कमरा बंद करके बैठ गए। विवाह वाले दिन पिता के कहने पर भी उन्होंने कचहरी से छुट्टी नहीं ली। उनके पिता समझते थे कि सुधारक लोग उनको कचहरी में बहका देंगे। कई दिनों तक वे किसी से नहीं बोले। उनको देखने ही से मालूम होता था कि उनको असह्य मानसिक वेदना हो रही है। एक सबू-

बाई की मृत्यु का दुःख, दूसरे अनिच्छा होने पर भी दूसरा विवाह, तीसरे विवाह भी उनके सिद्धांतों के विरुद्ध ! रमाबाई की आयू उस समय केवल ११ वर्ष थी।

इस विवाह के संबंध में अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार लोग भिन्न भिन्न सम्मति देंगे, पर सब लोग इस बात पर सहमत होंगे कि उन्होंने केवल पितृभक्ति के कारण यह विवाह किया था। वे नहीं चाहते थे कि उनके पिता के पारिवारिक सुख में उनके कारण किसी प्रकार का विघ्न पड़े। इसीलिये उन्होंने अपने मित्रों को रुष्ट किया और अपना उपहास कराया। इस संबंध में श्रीमती रमाबाई रानडे लिखती हैं—"मुझे तो यह प्रतीत होता है कि उनकी सारी जीवनी में सच्चे स्वार्थत्याग और मन की बड़ाई का जो कुछ अंश है उसमें अत्यंत उदात्त और महत्त्वपूर्ण यही है। इस संबंध में कोई कितनी ही निंदा करे मुझे तो इस कार्य के लिये उनका आदर ही होता है। सच्ची भक्ति से यदि उनका चरित्र पढ़ा जाय तो सब का यही विचार होगा।" रमाबाई के इस कथन का बहुत से लोग समर्थन नहीं करेंगे।

विवाह के अवसर पर रमाबाई के पिता ने अपने कुटुंब की स्त्रियों को नहीं बुलवाया क्योंकि रानडे ने अपने पिता से वचन ले लिया था कि विवाह में केवल वैदिक विधि और हवनादि होंगे। स्त्रियों के आने से इसमें अवश्य विघ्न पड़ता।

रमाबाई के पिता उसको ससुराल छोड़ कर अपने घर चले

गए। उसी दिन रानडे कचहरी से आकर रमाबाई को ऊपर ले गए और उन्होंने उससे पूछा—"तुम्हारे पिता गए?" उसने कहा-"हाँ" फिर उससे अपना नाम पूछा। उसने आज्ञा पाकर उनका पूरा नाम जो सुना था, कह सुनाया। इसके उपरांत उसके घर के संबंध में कई प्रश्न करके पूछा—"तुम पढ़ना लिखना जानती हो कि नहीं?" वह बिचारी कुछ पढ़ी लिखी नहीं थी। उसने उत्तर में स्पष्ट यही कह दिया। बस, उसी समय रानडे ने उसको स्लेट पेंसिल देकर पढ़ाना आरंभ कर दिया। १५ दिन में वह बारहखड़ी आदि सीख कर मराठी की पहली पुस्तक पढ़ने लग गई। जब उसको पढ़ने लिखने में स्वयं आनंद मिलने लगा तब पढ़ाने के लिये 'ट्रेनिंग कालेज' की एक अध्यापिका रक्खी गई जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी। शिक्षिका और शिष्या दोनों ही के छोटे होने के कारण आपस में खूब बातें होतीं थीं और इसी में एक घंटा बीत जाता। कभी कभी यदि दो एक पृष्ठ पढ़े भी गये तो अध्यापिका के चले जाने पर फिर पुस्तक नहीं खुलती थी। इस बीच में रानडे तीन महीने के लिये देशाटन को चले गए। बस, पीछे सब पढ़ना लिखना प्रायः बंद सा हो गया। जब उन्होंने प्रवास से लौट कर देखा कि रमाबाई ने विद्याभ्यास में कुछ विशेष उन्नति नहीं की तब अध्यापिका से शिकायत की। अध्यापिका ने कहा—"यह देहातिन है, इसको पढ़ना लिखना नहीं आयगा। आप पढ़ा कर देख लीजिए। मैं तो इसके साथ बहुत परिश्रम कर चुकी।"

इस पर रमाबाई की आँखों में आँसू भर आए और वह पढ़ने में ध्यान भी देने लग गई। अब उसको सगुणाबाई नाम की उसी कालेज की दूसरी अध्यापिका पढ़ाने लगी। वह शांत और सुशील थी। दो वर्ष में पाँचवें दर्जे की पढ़ाई समाप्त हो गई।

सब के सामने अपनी स्त्री को पढ़ाना प्रायः बुरा समझा जाता है, परंतु रानडे इसकी परवाह नहीं करते थे। वे सर्वदा दो घंटा रमाबाई को पढ़ाते थे। विद्याभ्यास में रमाबाई को बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। रानडे की सौतेली माँ और बहिन को गोविंदराव ने कुछ थोड़ा पढ़ाने का प्रबंध कर दिया था। वे साधारणतः पढ़ लिख सकती थीं। पर रमाबाई को पढ़ते देख वे बहुत बुरा मानती थीं। उस समय घर में रिश्ते की कुछ और स्त्रियां भी थीं। वे सब मिल कर रमाबाई से हँसी ठठ्ठा करतीं। वह कभी कभी पद्य की पुस्तकें उच्च स्वर से पढ़ती तो सब चिढ़ाने लगतीं—"सुनो, तुम इतनी बातें सुनती हो, फिर भी पढ़ना नहीं छोड़ती। तुमको अपना अधिकांश समय स्त्रियों ही में बिताना चाहिए। यदि वह तुम्हें पढ़ने के के लिये कहें भी तो उस पर ध्यान न दो। आपही कहना छोड़ देंगे।"

रमाबाई के दो छोटे देवर थे। वे अँग्रेजी पढ़ते थे। उन्हें अँग्रेजी पढ़ते देख रमाबाई ने एक दिन रानडे से कहा—"मैं भी अँग्रेजी पढ़ लेती तो अच्छा होता।" रानडे को बड़ा आश्चर्य

और आनंद हुआ। उन्होंने कहा—"हमारी भी यही इच्छा है। मराठी का अभ्यास समाप्त होने पर अँग्रेजी आरंभ होगी।"

कुछ महीने बाद मराठी शिक्षा समाप्त हुई और अँग्रेजी आरंभ हुई। इसके पढ़ने में समय अधिक लगता था। इससे दूसरी स्त्रियाँ और भी बुरा मानने लगीं। एक दिन रमाबाई के हाथ में एक अँग्रेजी अखबार का टुकड़ा देख कर ननद दुर्गा ने बिगड़ कर कहा—"तुम्हारा आफिस ऊपर है, वहाँ चाहे तुम पढ़ो चाहे नाचो, यहाँ इसकी जरूरत नहीं। हमारी पहली भाभी ने भी लिखना-पढ़ना सीखा था, पर हम लोगों के सामने कभी उसने किताब छुई तक नहीं। भैया ने उसे भी अँग्रेजी पढ़ाने के लिये कितना जोर दिया था परंतु उसने कभी उस ओर ध्यान भी नहीं दिया। यदि भैया उससे दस बात कहते तो वह एक करती। उसमें ये गुण नहीं थे।" इस प्रकार बात बात पर वे उसे झिड़क देतीं पर वह शांत होकर सुन लेती। उसने पढ़ना नहीं छोड़ा।

कुछ दिनों के बाद रानडे नासिक बदल गए। वहां दूसरी स्त्रियाँ साथ नहीं गईं। इसलिये पढ़ाई का प्रबंध बहुत ठीक हो गया। सबेरे घंटे दो घंटे पढ़ाई होती, संध्या समय एक घंटा मराठी समाचार-पत्र पढ़े जाते और भोजनोपरांत रानडे रमाबाई से रात के दस बजे तक मराठी पुस्तकें पढ़वाते। प्रातःकाल ४ बजे उठ कर वे रमाबाई को संस्कृत श्लोक याद कराते और उनके

अर्थ स्वयं समझाते और प्रति दिन रमाबाई से श्लोक पढ़वा कर सुनते।

जब अँग्रेजी की दूसरी पुस्तक समाप्त हो गई रानडे ने इसौप्स फेबल्स और अंजील पढ़ाना आरंभ किया और घर का सब खर्च और हिसाब किताब रमाबाई के जिम्मे कर दिया। धीरे धीरे देशहित के कामों में भी रमाबाई का प्रवेश होने लगा। रानडे और वहाँ के जाइंट जज रावबहादुर गोपालराव हरी देशमुख ने जो सनातन धर्मावलंबी थे, मिल कर यह विचार किया कि नगर की स्त्रियों को एक स्थान पर जमा करके कभी कभी सीता, सावित्री आदि प्राचीन साध्वी स्त्रियों के जीवन-चरित्र सुना कर उनका ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित करना चाहिए। इस काम में रमाबाई और श्रीमती देशमुख से सहायता ली जाती थी। एक बेर लड़कियों की पाठशाला का उत्सव किया गया। उसमें प्रतिष्ठित घरों की स्त्रियों को निमंत्रण देने के लिये देशमुख की लड़कियाँ और रमाबाई लोगों के घर पर गईं। उत्सव की समाप्ति पर सभापति और उपस्थित स्त्रियों को धन्यवाद देने के लिये रानडे ने रमाबाई को एक लेख दे दिया जिसको उन्होंने वहाँ पढ़ा। इस प्रकार रमाबाई में देशहित के कार्यों के लिये अनुराग उत्पन्न होने लगा।

जब कुछ महीने के लिये रानडे बंबई के प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट हुए तब रमाबाई प्रति शनिवार को आर्य-महिला समाज में जातीं और कभी कभी निबंध लिख कर पढ़ा करतीं अथवा व्याख्यान

देतीं। रानडे जब फिर पूना में बदल गए तो वहाँ उन्होंने स्त्रियों की एक सभा स्थापित की। उसमें खगोल, भूगोल, इत्यादि विज्ञान संबंधी पाठ दिए जाते जिनको स्त्रियाँ दूसरे अधिवेशन में लिख कर लातीं और उनके लेख शुद्ध किए जाते। परंतु पूना आकर घरवालों का विरोध फिर आरंभ हुआ। इस समय रमाबाई की प्रबल इच्छा संस्कृत पढ़ने की थी, पर घरवालों के विरोध के कारण वह पूरी न हो सकी। कुछ महीनों के लिये जब रानडे को दौरे का काम करना पड़ा, तब उन्होंने जनाना मिशन की एक मेम को रमाबाई को अँग्रेज़ी पढ़ाने के लिये नियुक्त किया। इस पर घर की स्त्रियाँ बड़ी अप्रसन्न हुईं और उन्होंने रमाबाई से बोलना छोड़ दिया। इस समय रानडे भी दौरे पर रहते थे, इस कारण रमाबाई को बड़ा दुःख होता था। एक दिन घर की एक स्त्री ने कहा—"मेम से छूकर तुम नहाती नहीं, केवल कपड़े बदल लेती हो, यह बात ठीक नहीं है। यदि तुम्हें नहाना न हो तो तुम ऊपर बैठी रहा करो, वहीं तुम्हारा भोजन पहुँच जायगा। अब तो तुम्हें भी मेम बनना है। घर के काम धंधे के लिये तो हम लोग मज़दूरनियाँ हैं ही।" इस पर रमाबाई ने मेम से पढ़ने के पीछे भी नहाना शुरू कर दिया। जाड़े के दिन थे। तीसरे पहर नहाने के कारण ज्वर आने लगा घर के लोगों ने रानडे को पत्र लिखा। जब वे दौरे से लौटे, उन्होंने नहाना मना कर दिया और कहा—"घरवालों की अप्रसन्नता का ख्याल मत करो। चाहे जो हो, पढ़ना न छोड़ो।"

घरवालों को भी उन्होंने समझा दिया। दूसरे दिन दोपहर को जब मेम आई तो ननद ने कहला भेजा—"अब नहा कर हमारे घर बीमारी न लाओ। हम लोग अपने कामों के लिये बहुत हैं, जो मन में आवे करो।"

उन्हीं दिनों पंडिता रमाबाई नाम की एक संस्कृतज्ञ विदुषी स्त्री पूना में आई। वे पुराण का पाठ बड़ी विद्वत्ता से करती थीं। उन्हें श्रीमद्भागवत कंठस्थ था। व्याख्यान भी उनका बड़ा ललित होता था। इसी बीच में रानडे दौरे से आए और उन्होंने अपने घर पर पंडिताजी से पुराण की कथा कहलवाई। इसके अनंतर और लोगों ने भी एक एक सप्ताह तक अपने अपने घर कथा बैठवाई। श्रीमती रानडे प्रति दिन कथा सुनने जातीं, इस लिये उनसे और पंडिता जी से बड़ा स्नेह हो गया। पर इनके घर की स्त्रियाँ पंडिता जी की बड़ी निंदा करतीं और उन पर अनेक तरह के दोषारोपण करतीं। एक दिन बात ही बात में पता लगा कि पंडिता जी को अँग्रेज़ी पढ़ने का शौक है और वे कुछ अंग्रेज़ी पढ़ी भी हैं। जब उनको यह मालूम हुआ कि रानडे के घर मेम पढ़ाने आती है तब वे भी अँग्रेज़ी पढ़ने रोज़ आने लगीं। अब क्या था। घरवालों का विरोध और भी बढ़ गया। इधर पंडिता जी ने 'आर्य-महिला-समाज' स्थापित की जिसमें प्रति शनिवार को उनके व्याख्यान होते। इस समाज में नए पुराने सब ख्याल के लोग अपने घर की स्त्रियाँ और बच्चों को भेजने लगे, पर रानडे की बहिन और सौतेली माँ विरोध

करने से बाज़ न आतीं। रानडे का नियम था कि वे घरवालों से कोई ऐसी बात नहीं कहते थे जिससे यह मालूम हो कि वे अपना बड़प्पन जतलाते हैं। इस लिये वे घर की स्त्रियों की बात में कुछ नहीं बोलते थे। केवल रमाबाई का उत्साह भंग नहीं होने देते थे। एक दिन दुर्गा ने कहा—"भैया (रानडे) का सभा के लिये इतना आग्रह नहीं है। यह स्वयं अपने मन से जाती है, मुझे और पहली भाभी को भी तो भैया ही ने लिखना पढ़ना सिखाया था, परंतु हमसे कभी उन्होंने ऐसी बातें करने के लिये न कहा। यद्यपि वह जागीरदार की लड़की नहीं थी तो किसी भिखमंगे की भी नहीं थी। वह सुशीला थी, यह तो एकदम पगली है। इसे जो कुछ कहो चुपचाप सुन लेती है, पर करती है अपने मन की ही।" इन दिनों रानडे दौरे पर रहते थे।

बरसात शुरू होते ही दौरा बंद हो गया। अब प्रति शनिवार को रमाबाई रानडे के साथ सभा में जातीं। जाते समय अपनी सास और ननद से पूछ भी लेतीं, पर सभा से आने पर वे उनकी बड़ी दुर्गति करतीं। दो तीन दिन तक बात चीत भी न करतीं। प्रति सप्ताह यही अवस्था होती, यद्यपि उस समय मेम भी छुड़ा दी गई थी।

इन्हीं दिनों पूना में यह विचार हुआ कि स्त्रियों के लिये एक हाई स्कूल खोला जाय। इसके लिये एक बड़ी सभा की गई जिसमें बहुत से स्त्री पुरुष आए और उस समय के गवर्नर

सर जेम्स फर्ग्यूसन भी पधारे। उस सभा के लिये एक अभिनंदनपत्र अँग्रेजी में रानडे ने लिख दिया और रमाबाई से उसको पढ़ने के लिये कहा। रमाबाई ने उसको सभा में पढ़ा। जब इसकी खबर घर पहुँची तब स्त्रियों में बड़ा आंदोलन मचा। रानडे की सौतेली माँ ने जिनको वे निज माता के समान आदर की दृष्टि से देखते थे, रमाबाई को सुना कर बड़े कठोर शब्दों में व्यंग्य बातें कहनी आरंभ कीं। रात को जब रानडे घर आए तो उनकी माँ ने कहा—"पहले की स्त्रियाँ बोलना तो दूर रहा, मरदों के सामने खड़ी भी न होती थीं। पुराण-वाचन के सिवाय स्त्री-पुरुष को एक साथ बैठे नहीं देखा। अब की औरतें कुर्सी लगा कर मरदों के सामने बैठती हैं। उन्हीं की तरह पढ़ती हैं, लिखती हैं, सब कुछ करती हैं। हजारों आदमियों के बीच में अँग्रेजी पढ़ते इसे लाज न आई। पढ़ाने लिखाने से औरतों की आँख का पानी उतर जाता है। वेंकटेश-स्तोत्र, शिवलीलामृत आदि पढ़ लिया, बहुत हुआ। अभी इसे अँग्रेजी पढ़ाना छोड़ दो—" इत्यादि। इन बातों को सुनकर रानडे हँसते जाते और किसी बात का जवाब न देते। परंतु रमाबाई को बड़ा दुःख हुआ। उसने उस दिन भोजन नहीं किया और रोने में समय बिताया। ऐसी बातें सुनते सुनते उसको बरसों हो गए, परंतु रानडे से इन बातों को कभी भी वह न कहती। हाँ, रानडे उसको सुस्त देखकर समझ जाते और धैर्य देते थे।

रमाबाई जब अपने पिता से अलग हुई थी तब उन्होंने

इससे कहा था कि "अपना स्वभाव ऐसा रखना कि जो तुम्हारी कुलीनता को शोभा दे और घर में चाहे जो हो, कभी स्वामी के सामने किसी की चुगली न खाना। इन दो बातों का ध्यान रक्खोगी तो तुम्हें किसी बात की कमी न होगी। तुम भाग्यवती हो, यदि तुम सहनशील बनोगी तो तुम्हारा उचित आदर होगा और तभी हमारे घर में तुम्हारा जन्म लेना सार्थक होगा।"—इत्यादि शिक्षा की बातें रमाबाई के पिता ने पहले ही से कह दी थीं। इधर रानडे भी इनको धैर्य की शिक्षा देते थे। जिस दिन रमाबाई ने गवर्नर के सामने एड्रेस पढ़ा था और घर आकर बातें सुनी थीं उसी दिन रात को हँसते हुए उन्होंने कहा था—"क्यों, आज तो खूब बहार हुई। परंतु अब तुम्हें और भी नम्र और सहनशील होना चाहिए। माता जी ने जो कुछ कहा, वह अपने समय की समझ के अनुसार, उसमें उनका कुछ दोष नहीं है, परंतु तुम्हें उत्तर देकर उनका मन न दुखाना चाहिए। मैं जानता हूँ कि ऐसी बातें चुपचाप सुनना बहुत कठिन और कष्टदायक है, परंतु यह सहनशीलता तुम्हारे भविष्य जीवन में बहुत काम आवेगी। लोग तुम्हारे विरुद्ध चाहे जितनी बातें कहें इसी सहनशीलता के कारण तुम्हें उनसे कुछ भी कष्ट न होगा। इसलिये किसी की परवाह न करके जो कुछ उत्तम और उचित जँचे, वही करना चाहिए"—इत्यादि। इन घटनाओं ने और रानडे की सहनशीलता की शिक्षा ने रमाबाई पर बड़ा प्रभाव डाला। धीरे धीरे उन्होंने बरदाश्त करना

सीख लिया, परंतु अपनी आत्मोन्नति के उपायों के अवलंबन को नहीं छोड़ा।

दौरे में रमाबाई भी रानडे के साथ जाने लगीं। रास्ते में जहाँ कहीं कन्या पाठशालाएँ मिलतीं वे रमाबाई को उनके देखने के लिये भेजते। तालेगाँव में लड़कियों के स्कूल में उन्होंने रमाबाई से व्याख्यान दिलवाया। फिर पूना में एज्यूकेशन कमीशन की सभा में रमाबाई का भाषण हुआ जिसकी स्वयं रानडे ने भी प्रशंसा की। रमाबाई को रानडे के साथ भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रांत में देशाटन करने का भी अवसर मिला। कलकत्ते में रानडे ने आप बँगला भाषा सीखकर रमाई को सिखलाई।

गृहस्थी का भार सँभालने की जिम्मेदारी भी उन्होंने ही सिखलाई। पहले घर का खर्च रसोइए के सिपुर्द था। रुपया रमाबाई के पास रहता और हिसाब रसोइया रखता था। नासिक पहुँच कर रानडे ने लिखने का भार भी रमाबाई पर डाला। इनको हिसाब का जोड़ देने में, भूला भटका हिसाब याद करने में घंटों लग जाते। ऐसी अवस्था में रानडे कभी कभी मदद कर देते। जब हिसाब लिखना उन्हें आ गया तब आपने एक दिन पहली तारीख को १००) देकर रमाबाई से कहा—"भोजन का खर्च महीना भर तक तुम्हीं चलाना।" इस समय आठ आदमियों का भोजन बनता था। रमाबाई ने समझा कि मास के अंत में इसमें से कुछ बच जायगा।

रानडे को उधार से बड़ी चिढ़ थी। उन्होंने रमाबाई से

साफ कह दिया था कि किसी से कोई सौदा उधार न आवे। पहले ही महीने वे घबरा गईं। २५ ही तारीख को सब रुपए खर्च हो गए और इनको चिंता ने आ घेरा, यहाँ तक कि एक दिन वे रोने लगीं। रानडे ने पूछा कि चिंता का क्या कारण है। रमाबाई ने बात को टालना चाहा, पर अनजाने ही बात चीत में इनके मुँह से निकल गया कि "रुपया सब खर्च हो गया।" उन्होंने तुरंत कहा—"रुपया जितना चाहिए ले लो। इसमें रोने का क्या काम? हमें तो तुम्हें गृहप्रबंध की शिक्षा देनी है। रुपया लेती चलो और हिसाब ठीक ठीक लिखती चलो।"

धीरे धीरे रानडे अपनी पूरी तनख्वाह (८०० रुपया मासिक) रमाबाई को देने लगे। परंतु रमाबाई ५) से अधिक बिना इनके पूछे खर्च नहीं करती थीं।

इस प्रकार रानडे ने अपनी दूसरी स्त्री को हिंदू रमणियों में रत्न बना दिया। यद्यपि दूसरा विवाह इनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ था तथापि इसके कारण ये अपने कर्त्तव्यपालन में नहीं चूके। रमाबाई ने एक पाठशाला की कन्याओं को अपने व्याख्यान में, रानडे के जीवित काल में ही कहा था कि "शिक्षा के कारण स्त्रियाँ स्वतंत्र या मर्यादा रहित नहीं होतीं। सुशिक्षा से पुरुष और स्त्री दोनों ही विनय-संपन्न और नम्र होते हैं। विद्या, संपत्ति और अधिकार प्राप्त करके नम्र होने और पति तथा बड़ों का आदर करने और उनके आज्ञानुसार चलने में ही लड़कियों का कल्याण है।" जो शिक्षा श्रीमती रमाबाई

रानडे ने कन्याओं को दी थी उसको अपने जीवन में उन्होंने घटा कर दिखला दिया। जिस प्रकार इन्होंने पातिव्रत धर्म को निबाहा, जितनी अपने पति की सेवा की, जिस तरह कष्ट सहकर भी अपने पति की आज्ञा का पालन किया इसके उदा-हरण उस पुस्तक में मिलते हैं जो उन्होंने मराठी भाषा में रानडे के संबंध में लिखी है। ये कभी रात को उनके पैर में घी लगातीं और इसी तरह सबेरा हो जाता, कभी उनको पुस्तकें पढ़ कर सुनातीं, कभी उनके पत्रों के उत्तर लिखतीं, कभी उनके भोजन, जल-पान की चिंता में लगीं रहतीं। रानडे के बीमार होने पर जितनी उन्होंने उनकी सेवा की, उसका वृत्तांत पढ़कर हृदय गद्गद हो जाता है। सुशिक्षित और सुधारक दल की होने पर भी जिस प्रकार उन्होंने पतिसेवा की उससे नवशिक्षिता हिंदू रमणियों को आदर्श-शिक्षा मिलती है।

एक दिन की बात है कि रानडे महाबलेश्वर से आ रहे थे। रमाबाई उनके साथ थीं। रास्ते में घाट पड़ा। रानडे का नियम था कि वे दौरे पर घोड़ों और बैलों का बड़ा ख्याल रखते थे। उनसे इतना ही काम लेते थे कि जितना उचित होता। घाट में जितनी दूर तक बालू रहती, आप पैदल चलते थे। ऐसा ही इस बेर भी उन्होंने किया। रमाबाई भी गाड़ी से उतर गईं, पर बच्चों को सँभाल कर बैठाने में इनको कुछ देर लग गई। रानडे कुछ आगे बढ़ गए। संध्या का समय था। रानडे की आँखें कमजोर थीं। इसलिये रमाबाई तेजी से आगे बढ़ीं।

रानडे ने जब उनको तेजी से चलते देखा अपना कदम धीमा कर दिया। इस समय रानडे एक भजन गाते जा रहे थे, इस-लिये इनका पास पहुँचना उनको मालूम न हुआ। इतने में एक पुल के पास प्रायः चार इंच लंबे दो काले बिच्छू आगे पीछे चले जा रहे थे। रमाबाई की दृष्टि रानडे के पैरों पर थी, इसलिये उन्होंने इन बिच्छुओं को देख लिया। रमाबाई यह समझ कर कि रानडे का पैर उन पर पड़ना ही चाहता है, घबरा गईं और चिल्लाने ही लगी थीं कि रानडे उनको लाँघ कर आगे बढ़ गए। रमाबाई ने पास जाकर घबराई हुई आवाज से पूछा—"पैर में चोट तो नहीं आई?" उन्होंने कहा—"क्यों, क्या हुआ, दम क्यों फूल रहा है?" रमाबाई के आग्रह करने पर वे सड़क के एक ओर पत्थर पर बैठ गए। तब रमाबाई ने बिच्छुओं का सब हाल सुनाया और कहा—"आज बड़ा भारी अरिष्ट टल गया। यदि पाँव उन बिच्छुओं से छू भी जाता तो वे डंक मार देते। रात के समय इस जंगल में दवा आदि कहाँ से आती।" कुछ देर चुप रहकर रानडे ने कहा—"अब तो अरिष्ट टल गया न? इससे यही समझना चाहिए कि ईश्वर सदा हमारे साथ है और पग पग पर हमें सँभालता है। बिच्छुओं पर पैर न पड़कर जो पैर आगे पड़ा वह अवश्य उसी की योजना है। जब तक वह रक्षा करना चाहता है तब तक कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। यही भाव सबको रखना चाहिए—

"जेथें जातों तेथें तू माझा सागाती।
चालविशी हातीं धरुनीयां॥"

अर्थात्–जहां जहां मैं जाता हूँ तू रहता मेरे साथ।
मानों मुझे चलाता है तू पकड़े मेरे हाथ॥

यह अभंग कितना ठीक है। धन्य वे पुरुष और उनका निस्सीम भाव! जब अपने आप को अनुभव होता है तभी यह युक्ति ठीक मालूम होती है। हम दुर्बल मनुष्यों के लिये ऐसा भाव मन में धारण करना ही मानों बड़ी सामर्थ्य है और उसी में अपना कल्याण है।

इतने में गाड़ी आ गई और वे उसमें बैठ गए। इस घटना से रानडे की अद्भुत ईश्वर-भक्ति का ही नहीं परंतु रमाबाई की असीम पति-भक्ति का भी परिचय मिलता है।

एक स्थान में रमाबाई लिखती हैं "उस रात को (जब रमाबाई बीमार थीं) हम लोगों को निद्रा नहीं आई। रात भर सैकड़ों विचार मेरे मन में उठते रहे। मैं सोचती यदि मुझे कुछ हो गया तो आपकी सेवा का प्रबंध कौन करेगा। तो भी यदि आपके सामने ही मेरा शरीरांत हो जाय तो इसमें बुराई ही क्या है। मुझमें कोई गुण न होने पर भी ईश्वर ने कृपा करके मुझे आपके चरणों तक पहुँचाने का अनुग्रह किया है और मुझे विश्वास है कि मेरा इस जन्म का संबंध भविष्य जीवन में भी बना रहेगा।"

रमाबाई की उक्त पुस्तक की भूमिका में माननीय गोखले ने ठीक लिखा है—"पश्चिमी समाज के अधिकांश परिवारों में दंपति में बहुत अधिक प्रेम होता है, परंतु तो भी उन लोगों में प्रायः समानता का व्यवहार होता है। परंतु दंपति में उसी प्रकार का प्रेम होते हुए भी पत्नी का पति-सेवा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने में ही अपने को धन्य समझना पूर्वीय स्त्रियों और उनमें प्रधानतः भारतीय स्त्रियों का विशेष मनोधर्म है। यह मनोधर्म हजारों वर्षों के संस्कार और परंपरा का फल है और इस पुस्तक में उसका अत्यंत मनोहर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। विचारों और आयुष्यक्रम पर नई शिक्षा, नई कल्पना और नई परस्थिति का नया प्रभाव पड़ने पर भी श्रीमती रानडे के समान स्त्रियों का मनोधर्म, ज्यों का त्यों बना रहता है इससे सब लोगों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

जिन जिन संस्कारों का विकास श्रीमती के हृदय में रानडे के सहवास से हुआ था, उन सब से वे इस समय अपने देश को लाभ पहुँचा रही हैं। सरकार की ओर से उन्हें विशेष आज्ञा मिल गई है कि वे सरकारी जेलखानों में जाकर कैदियों को धर्म की शिक्षा दें। वे उनको भगवद्गीता और अन्य धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाती हैं और चरित्र सुधार-संबंधी उपदेश करती हैं। आपका प्रभाव भारतीय स्त्रियों पर भी अच्छा पड़ रहा है। आपके व्याख्यान बड़े गंभीर और शिक्षाप्रद होते हैं। महिला-परिषद् के पहले अधिवेशन में आपने प्रधान का आसन

ग्रहण किया था। आपका पहनावा सीधा सादा दक्षिणी ढंग का है और आपका समय देशहितकारी कामों में ही बीतता है।

पूना में जो सेवा-सदन की शाखा है उसमें आपके द्वारा स्त्री-शिक्षा का प्रचार होता है। स्त्रियों में रोगियों की सुश्रूषा का भाव जिसका आधिक्य उनमें स्वभावतः ही होता है बढ़ाया जाता है और इसका उचित कार्यक्रम बतलाया जाता है। पूना में श्रीमती रानडे के निरीक्षण में हिंदू रमणियों का एक सामाजिक क्लब बहुत दिनों से चल रहा था। इस क्लब ने विचार किया कि स्त्री-शिक्षा-प्रचार संबंधी कुछ कार्य करना चाहिए। उन्होंने सोच विचार के अनंतर निश्चय किया कि जिन स्त्रियों की अवस्था अधिक हो जाय और वे अपढ़ रह जाँय अथवा जिनका पढ़ना विवाह के कारण रुक जाय उनके लिये पाठशाला खोलनी चाहिए।

इस पाठशाला में दो कक्षाएँ खोली गईं और २० पढ़नेवाली मिल गईं। मराठी, गणित, अँग्रेज़ी, गृहचिकित्सा और प्रारंभिक आघातों की चिकित्सा की पढ़ाई आरंभ हुई। २ बजे से ४ बजे तक पढ़ाने का समय रक्खा गया जिसमें स्त्रियों के गृह-कार्य में विघ्न न पड़े। अक्तूबर सन् १९०९ में बंबई के सेवा सदन की यह पाठशाला शाखा बनाई गई। धीरे धीरे इसमें इतनी उन्नति हुई कि दो कक्षाएँ और २० पढ़ने वालियों से अगस्त १९१५ में २० कक्षाएँ और २५३ पढ़ने वालियाँ हो गईं। १९०९ से १९१५ तक कुल ७०० स्त्रियों ने शिक्षा पाई, १९२१ में

यहां ६०० पढ़ने वालियां प्रति दिन आने लगीं। इस समय इस में बिनाई, सिलाई, रोगियों की सेवा करना भी सिखलाया जाता है। १६११ से दाई का काम भी सिखलाया जाता है। जो गाना सीखना चाहें अथवा हारमोनियम बजाना सीखना चाहें उनके लिये भी उचित प्रबंध है। १६१४ से अध्यापिकाएँ भी यहाँ तैयार की जाती हैं। वे यहाँ शिक्षा पाकर स्त्रियों के ट्रेनिंग कालेज की परीक्षा देती हैं। सेवा-सदन की छात्राएँ अस्पतालों में गरीब रोगियों को फल बाँटती हैं और उनको धार्मिक पुस्तकें पढ़ कर सुनाती हैं। कहीं आग लग जाय अथवा अकाल पड़े तो दुखियों की सहायतार्थ वे बाहर जाती हैं। वे अपनी संस्था के लिये चंदा मांगती हैं। चंदे से सदन की मासिक सहायता इस समय १७० स्त्रियाँ करती हैं जिनमें से अधिकांश ॥) मासिक देती हैं। चंदा माँगने और दुखियों की सहायता करने श्रीमती रानडे भी सबके साथ प्रायः जाती हैं। श्रीमती जी ने सदन के भवन बनने से पहले अपना गृह बिना किराए के और ५०००) नकद चंदा भी दिया था। इससे इसके अतिरिक्त आपने सदन को १५०००) ऋण भी अपनी जिम्मेदारी पर दिलवाया था।

पूना म्यूनिसिपैलिटी में जब इस विषय पर विवाद हुआ कि प्राथमिक शिक्षा केवल लड़कों के लिए ही अनिवार्य की जाय अथवा लड़कियों के लिए भी, रमाबाई रानडे ने स्त्रियों की ओर से कन्याओं की शिक्षा को भी अनिवार्य करने पर बड़ा

आंदोलन किया। स्त्रियों में इतना उत्साह आगया कि उन्होंने नगर कीर्तन निकाला और इस विषय के पक्ष में जनता में जागृति उत्पन्न कराई।

इसी प्रकार कौंसिल के लिए सभासद चुनने का अधिकार स्त्रियों को भी देना चाहिए इस विषय पर वे अपने उद्योग में सफल हुईं। १९२१ में इस प्रस्ताव पर बंबई कौंसिल में तीन दिन तक विवाद हुआ था। अंत में यह पास हुआ और एक्ज़ेक्यूटिव कौंसिल के सभासद लौरेंस महोदय ने कहा कि संसार में कोई भी कौंसिल ऐसी नहीं है जिसको रमाबाई रानडे अपनी उपस्थिति से सम्मानित और प्रतिष्ठित न करेंगी।

तिसपर भी रमाबाई में इस समय तक इतनी लज्जा है कि अनिवार्य शिक्षा के लिए आंदोलन करनेवाली स्त्रियों के साथ वे फोटो उतारवाने के समय नहीं बैठीं और कौंसिल की मेम्बरी के अधिकार प्राप्ति के उद्योग में उनको अपरिचित कौंसिलरों के पास जाने में असमंजस मालूम होता था।

रानडे की धर्म्मपत्नी की कीर्ति रानडे की आत्मा को शांति प्रदान करेगी।

रानडे के कोई पुत्र नहीं हुआ, केवल एक पुत्री थी। उनके दो सौतेले भाई नीलकंठ और श्रीपाद हैं। नीलकंठ डाक्टर हैं वे दक्षिणी अफ्रिका भी हो आए हैं और युद्ध में भी भेजे गए थे।

४ जून १९०० को रानडे ने अपना वसीयतनामा लिखा था जिसमें अपने भतीजे को गोद लेने का अधिकार रमाबाई को

दिया था और जब तक वह २१ वर्ष का न हो जाय उन्हीं को उसका रक्षक बनाया था। रानडे के मरने पर उनकी जायदाद करीब दो लाख की बतलाई गई थी जिसमें से २५०००) वसीयत-नामे के अनुसार धर्मार्थ था, १०,०००) की जायदाद पर पूर्ण अधिकार और २५०००) की मालियत के मकानों का किराया उनके जीवनकाल तक रमाबाई को दिया गया। शेष सब उन्होंने अपने भतीजे के नाम लिखा। रानडे के मरने के तीन मास उपरांत यह लड़का गोद लिया गया परंतु खेद का विषय है कि बालिग होने पर इस बालक में और रमाबाई में अनबन होने के कारण दोनों को कचहरी जाने की नौबत आई। खेद इस बात पर इसलिए अधिक है कि रानडे का अधिकांश धन देशसेवा में लगना चाहिए था।

(५) सरकारी नौकरी।

वकालत की परीक्षा पास करते ही रानडे को २००) मासिक पर शिक्षा विभाग में मराठी अनुवादक का पद मिला। २८ मई १८६६ से २० नवंबर १८६७ तक ये उस पद पर रहे। इस बीच में थोड़े दिन के लिये वे अक्कलकोट की रियासत में सरकार की ओर से भेजे गए। रियासत में इनका काम इतना अच्छा हुआ कि ये ४००) मासिक पर कोल्हापुर में न्यायाधीश चुने गए। पर इन्होंने उस समय तक एडवोकेट की परीक्षा पास

नहीं की थीं जिसके बिना इनको हाईकोर्ट में वैरिस्टरों की नाईं वकालत करने का अधिकार नहीं था। इसलिये कोल्हापुर की रियासत से इन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसी बीच में एल्फिंस्टन कालेज में अँग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रोफेसर का स्थान थोड़े दिनों के लिये खाली हुआ। जब इनसे पूछा गया, इन्होंने उस पद को स्वीकार कर लिया। इनका काम इतना अच्छा हुआ कि जब असली प्रोफेसर साहब लौट आए तब इनके लिये सहायक अध्यापक का नया स्थान बनाया गया। वे इस पद पर सन् १८६८ से १८७१ तक रहे। १८७१ में उन्होंने एडवोकेट की परीक्षा बड़ी योग्यता से पास कर ली। इस समय यदि वे चाहते तो हाईकोर्ट में वकालत करना शुरू कर देते। वकील को परश्रिमी, साहसी, कानून की योग्यता रखनेवाला, अँग्रेजी भाषा में अच्छे प्रकार बोलने की शक्ति रखनेवाला होना चाहिए। ये सब गुण इनमें थे। परंतु ये बड़े शरमाऊ थे. किसी काम में अपने को आगे नहीं रखते थे, अपनी विद्वत्ता पर इनको विश्वास नहीं था, वे दूसरों को अपने से अधिक योग्य समझते थे, इसलिये वकालत करने की ओर इनकी रुचि नहीं हुई। इसका एक कारण यह भी था कि एलएल० बी० की परीक्षा पास करते ही इनको बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। बँधी आमदनी छोड़ कर वकालत करना इनके लिये अब कठिन था।

सन् १८७१ में एडवोकेट की परीक्षा पास करते ही ये बंबई

के तीसरे पुलिस मैजिस्ट्रैट नियुक्त हुए और कुछ ही महीनों के पीछे बंबई की स्माल काज़ कोर्ट के चौथे जज हुए। इस पर वे २८ जुलाई से २२ सितंबर १८७३ तक रहे।

उसी वर्ष १६ नवंबर को वे ८००) मासिक पर पूना के प्रथम श्रेणी के कायममुकाम सदराला बनाए गए। ६ फरवरी १८७३ को इसी पद पर वे मुस्तकिल किए गए। सरकारी नौकरी में इतनी शीघ्र उन्नति इनके अत्यंत परिश्रम और उत्तम न्याय के कारण हुई। तीस वर्ष के नवयुवक को पूना ऐसे स्थान में इतने बड़े पद पर प्रथम श्रेणी में बैठा देना प्रमाणित करता है कि सरकार को इनकी योग्यता पर पूर्ण विश्वास था। इनके फैसले बड़े विचारपूर्ण होते थे। हर एक मुकदमे की तह में जा कर रानडे एक एक बात पर अपनी स्पष्ट सम्मति देते थे। उस समय बंबई हाई कोर्ट में सर माइकल वेस्ट्रॉप चीफ जस्टिस थे। ये महानुभाव न्याय शास्त्र की योग्यता के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। रानडे के फैसले अपील में इनके सामने बहुधा जाया करते थे। वेस्ट्रॉप साहब इनके फैसलों को पढ़ कर बड़े प्रसन्न होते थे। एक बेर अपील सुनते हुए उन्होंने कहा कि "जिस सदराला ने इस फैसले को लिखा है वह हम लोगों के साथ हाई कोर्ट में बैठने की योग्यता रखता है।" जब वे पैंसन लेकर अपने देश को गए तब उन्होंने वहाँ से रानडे के पास १५ नवंबर १८८४ को एक प्रशंसापत्र लिख कर भेजा और उसमें यह लिखा कि "बंबई हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस

के पद पर रहकर जितने अवसर मुझे आपके फैसलों को पढ़ने के मिले—और ऐसे अवसर मुझे कई वर्षों तक मिलते रहे—उनसे मैं कह सकता हूँ कि उस समय बंबई प्रांत में एक भी सदराला ऐसा नहीं था जिसके फैसलों में आपसे अधिक योग्यता और न्याय शास्त्र के ज्ञान का परिचय मिलता हो। आप को अपने काम के करने में आनंद प्राप्त होता है और उसी का यह फल है।"

आगे चलकर रानडे को दूसरे दर्जे के सदराला लोगों के फैसलों की अपील सुनने का अधिकार मिल गया। यह गौरव इसके पहले किसी सदराला को नहीं मिला था। इस काम को भी योग्यतापूर्वक करने से इनकी प्रशंसा और अधिक होने लगी।

पर किसी के भी दिन सदा एकसे नहीं रहते। सन् १८७८ में रानडे की बदली पूना से नासिक की गई। उस समय सर रिचर्ड टेंपल बंबई के गवर्नर थे। इनको पूना के ब्राह्मण अच्छे नहीं लगते थे। इनका विश्वास था कि ये लोग राज-विद्रोही और फसादी होते हैं। इन्हीं दिनों सरकार ने नियम बनाया कि कोई सरकारी अफसर किसी स्थान में ५ वर्ष से अधिक न रहे। इसी नियम के अनुसार रानडे पूना से बदल दिए गए, पर इसका असली कारण यह था कि सन् १८७४–७५ में मल्हा-राव गायकवाड़ का विषप्रयोगवाला मुकदमा चल रहा था। किसी ने पूना से एक तार इस आशय का बड़ोदा भेजा कि यदि राज्य मुकदमा चलाना मंजूर न करे तो महाराज स्वयं

अपने पक्ष में मुकदमा चलावें और उसके लिये पूनावाले एक लाख रुपये तक देने को तैयार हैं। इन्हीं दिनों एक आदमी कहीं से घूमता फिरता पूना आ ठहरा। उसने सबसे मेल जोल रखने के अनेक उपाय किए। अपने स्थान पर वह पान, बीड़ी, ताश, सितार आदि आमोद की बहुत सी चीजें रखता था। धीरे धीरे उसके यहाँ पूनावाले आने जाने लगे। किसी को यह न सूझा कि एक अपरिचित पुरुष से इतना घनिष्ट संबंध रखना अनुचित है। यहाँ तक कि उस समय की बड़ी प्रतिष्ठित राजनैतिक "सार्वजनिक" सभा के मंत्री सीताराम हरि चिपलूणकर से उसकी बड़ी मित्रता हो गई। इन्हीं दिनों चिपलूणकर जी प्रति दिन रानडे के घर सभा की त्रैमासिक रिपोर्ट लिखने के लिये जाया करते थे। एक दिन रानडे ने उनसे उस आदमी का नाम और पता पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि "वह किसी को अपना नाम और पता नहीं बतलाता पर आदमी बड़ा विद्वान और भद्र मालूम होता है। रानडे ने कहा—"तुम सबसे पहले इस बात का पता लगाओ कि उसकी डाक कहाँ से आती है?" तीसरे दिन चिपलूणकर जी ने पता लगा कर कहा "वह टेढ़े सीधे रास्ते से स्वयं डाकखाने जाता है। वहीं वह अपनी चिट्ठियाँ छोड़ता है और स्वयं ही अपनी डाक लाता है। कल उसका एक फटा हुआ लिफाफा मुझको मिला। उस पर शिमले की मोहर है। साथ ही पोष्टआफिस में एक मित्र से मालूम हुआ कि कलकत्ता वा शिमला के गवर्नमेंट सेक्रेटेरि-

थेट से उसका पत्रव्यवहार है। इसलिये आपका संदेह बहुत ही अंशों में ठीक मालूम होता है।" उसी दिन से लोगों का उसके यहाँ जाना आना बंद हो गया। वह भी तीसरे दिन पूना से चलता बना और चार महीने पीछे रानडे भी नासिक से बदल गए।

रानडे कष्ट को कष्ट नहीं मानते थे। दुःख में भी वे सुख की सामग्री ढूंढ लेते थे। नासिक जाकर उन्होंने एक बाग़ खरीद लिया जो मनोरजन का एक साधन बन गया। इसमें वे सायंकाल सैर करते। रमाबाई अपने सामने फुलवाड़ी लगवातीं। इसमें तरकारी भी बोई जाती। नासिक में उन्होंने प्रार्थना-समाज स्थापित किया। वे वहां स्त्री-शिक्षा-प्रचार के उपाय करने लगे मानों उन्हें सदा वहीं रहना था।

सर रिचर्ड टेंपल गवर्नरी के पद पर अभी तक विराजमान थे। सन् १८७६ की गर्मियों की छुट्टी में रानडे पूना आए। प्रति दिन नगर के देशहितैषी नवयुवक उनके घर पर जमा होते। देशहित के कार्य्यों के नए नए साधन सोचे जाते। इसी बीच में रानडे के पास सरकारी आज्ञा पहुँची—"छुट्टियां समाप्त होने की राह मत देखो। हुक्म पाते ही तुरंत धुलें जाकर फर्स्ट क्लास सब-जज का चार्ज ले लो।"

इस प्रकार के जनरैली हुक्म द्वारा बदली करने का कारण यह था कि पूना में उस साल वासुदेव बलवंत फड़के नाम के एक मोहर्रिर ने गावों में लूट मार करा दी। फड़के अपने को

शिवाजी का अवतार समझता था। उसने इधर उधर से अनेक चोरों और लुटेरों को जमा करके महाराष्ट्र राज्य फिर से स्थापित करने की मन में ठानी थी। वह समझता था कि दूर दूर के गावों में लूट मार करने ही से उसका प्रबल राज्य स्थापित हो जावगा। परिणाम यह हुआ कि वह पकड़ा गया और अदन भेद दिया गया। एक बेर उसने वहां से निकल भागने का प्रयत्न किया जो निष्फल हुआ। अदन ही में वह मर भी गया। इन्ही दिनों १६ मई १८७६ को रानडे नाम के एक दुष्ट ने रात को पेशवाओं के महल बुधवारबाड़ा और विश्रामबाग के उस अंश में जहां पूना हाई स्कूल है, आग लगा दी। सवेरे तक यह दोनों स्थल जल कर भस्म हो गए। बुधवारबाड़ा में सरकारी बुक डिपो था। इसकी रक्षा रानडे नामधारी एक नौकर करता था। उसने वहां से बहुत सी पुस्तकें चुरा ली थीं। अपने अप-राध को छिपाने के लिये सब पुस्तकों को भस्म कर देना ही उसने उचित समझा। आग लगानेवाले रानडे को पकड़ने में श्रीयुत रानडे ने सरकार की पूरी मदद की। परंतु बंबई के टाइम्स पत्र ने दोनों रानडे की एक ही वंश का बतला कर आग लगाने के अभियोग में दोनों को अपराधी बतलाया। उस समय के गवर्नर रानडे के विरोधी तो थे ही, अन्य सरकारी कर्मचारी भी दूध और पानी को अलग न कर सके। आग लगाने के आठ दिन के अंदर उनको बदली का हुक्म मिल गया! जब रानडे पूना से चलने लगे उनके मित्रों को बड़ा

दुःख हुआ। उन्होंने उनको सलाह दी कि आप सरकार को लिख दीजिये कि धुले का जलवायु मेरे अनुकूल न होगा। इस लिये मेरी बदली वहाँ न की जाय। लोगों ने रानडे को सावधान होने के लिये कहा और समझाया कि इस बदली के हुक्म में सरकार का कोई गूढ़ हेतु है। अपने समान सारे संसार का मन निर्मल समझने से काम न चलेगा, इत्यादि। पर रानडे ने साफ कह दिया—"जब तक मुझे नौकरी करनी है तब तक कोई बहाना नहीं ढूढूँगा। जहां बदली होगी जाऊँगा। यदि कभी ऐसी आवश्यकता पड़ जायगी तो नौकरी छोड़ कर अलग हो जाऊँगा।"

रानडे धुले पहुँचे। धुले खांदेश जिले का मुख्य नगर है। यहां न विद्या का प्रचार है न देश हित की कुछ चर्चा है। सरकार ने समझा रानडे के लिये यही उपयुक्त स्थान है। उनके मित्र उनको सावधान रहने के लिये यहां भी लिखते रहे। लोगों का संदेह सच निकला। रानडे की चिट्ठियां इनको देर करके मिलने लगीं। किसी किसी चिट्ठी के देखने से यह मालूम होता था कि यह एक बेर खोल कर फिर से जोड़ी गई है। चपरासी से डाक देर करके लाने का कारण पूछा गया। उसने उत्तर दिया कि पोस्ट मास्टर डिलीवरी का काम समाप्त करने के पीछे उनकी चिट्ठियां देते हैं। रानडे समझ गए कि उनकी डाक अवश्य सरकारी आज्ञानुसार खोल कर देखी जाती है।

चिट्ठियों की इस जाँच पड़ताल के साथ साथ इनके पास

कुछ बनावटी चिट्ठियां भी आने लगीं। किसी किसी में वासुदेव बलवंत फड़के या हरि दामोदर के हस्ताक्षर होते और उन में लिखा रहता कि अमुक स्थान पर बलवा होना निश्चय हुआ है, अमुक हत्यारे हमसे आकर मिल गए हैं, इत्यादि। ऐसी चिट्ठियों को रानडे लिफाफे सहित पुलिस सुपरेंटेंडेंट के पास भेज देते।

उस समय धुले के असिस्टेंट कलेक्टर डाक्टर पोलन थे। एक दिन वे रानडे के घर गए और उनको गाड़ी में साथ बैठा कर हवा खाने ले गए। रास्ते में खूब बात चीत हुई। डाक्टर पोलन की बातों से स्पष्ट मालूम हो गया कि वे रानडे को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। परंतु मिलने पर दिल की सफाई हो गई और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की। पेनशन लेने पर स्वदेश लौट कर भी उन्होंने कई अवसरों पर कहा है कि उनको भारतवर्ष में रानडे से बढ़कर विद्वान और देशहितैषी नहीं मिला।

इधर वासुदेव बलवंत फड़के की डायरी पुलिस को प्राप्त हो गई। उसके देखने से मालूम हुआ कि उसके साथियों और सलाह देनेवालों में कोई भी सुप्रतिष्ठित और भला आदमी नहीं था। आग लगानेवाले रानडे ने भी अपने इजहार में अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

रानडे धुले में थोड़े दिनों के लिये डिस्ट्रिक्ट जज नियुक्त हुए।

इस समय सर रिचर्ड टेंपल के स्थान पर सर जेम्स फर्ग्यूसन गवर्नर हो चुके थे। जब रानडे के ऊपर से संदेह जाता रहा तब वे बंबई के प्रेसिडेंसी मेजिस्ट्रेट बनाए गए। अब तक इनको दीवानी के मुकदमे करने का अनुभव प्राप्त था, मेजिस्ट्रेट होकर फौजदारी के मुकद्मे करने पड़े। इससे पहले भी आप एक बेर मैजिस्ट्रेट हो चुके थे। फौजदारी का काम आपने बड़ी योग्यता से किया। परंतु अंग्रेजी अखबारों ने एक मुकद्मे के कारण इनका बहुत विरोध किया। एक अंग्रेज ५०) की चोरी के अपराध पर इनके सामने लाया गया। इन्होंने मुकद्मे का सब वृत्तांत सुन कर उसको छः महीने की कैद का हुक्म दिया। अंग्रेजी अखबारों ने बड़ा आंदोलन मचाया। उन्होंने लिखा कि रानडे अंग्रेजों से द्वेष रखते हैं और अपने देशवासियों का पक्ष करते हैं। इस कथन के प्रमाण में उन लोगों ने आपके एक फैसले का हवाला दिया जिसमें आपने एक कोचवान को जिसने सौ रुपए के नोट चुरा लिए थे, केवल एक महीने की सजा दी थी। उन लोगों ने लिखा कि अंग्रेज को ५०) चुराने के लिये छः महीने की सजा और हिंदुस्तानी को १००) चुराने पर केवल एक महीने का दंड, यह पक्षपात नहीं तो क्या हो सकता है। रानडे विरोध से डरते नहीं थे और न विरोधियों को प्रत्युत्तर ही देते थे। परंतु थाना स्थान के एक अंग्रेज सिविलियन जज ने टाइम्स आव इंडिया को रानडे के पक्ष में एक पत्र भेजा। उसमें उन्होंने लिखा कि रानडे ने दोनों फैसलों में

पूरा न्याय किया और कहीं भी द्वेष अथवा पक्षपात से काम नहीं लिया, क्योंकि जिस अंग्रेज ने ५०) की चोरी की थी उसके पास उस समय भरा हुआ पिस्तौल था जिसको लेकर वह रेल के गार्ड के कमरे में घुस गया और गार्ड को अनुपस्थित पाकर ताला तोड़ कर उसमें से ५०) मूल्य के कपड़े चुरा लाया। यदि उस समय उससे कोई छेड़ छाड़ करता तो वह अवश्य उस पर वार करता और अपने बचाने के लिये शायद खून भी कर देता। इसके विपरीत कोचवान के मालिक ने अदालत से यह कहा कि इसको सौ रुपए के नोट भुनाने के लिये दिए गए थे जिनको इसने अपने पास रख लिया। उसके मालिक ने यह भी बतलाया कि वह बड़ा पुराना नौकर था और उसने पहले कभी चोरी नहीं की थी। उसके मालिक ने अदालत से प्रार्थना की थी कि उसको हलका ही सा दंड दिया जाय। इसलिये अँग्रेज और कोचवान् के अपराध एक से नहीं थे। अँग्रेज चोर अधिक दंडनीय था।

३ जनवरी १८८१ से २१ मार्च १८८१ तक रानडे बंबई में प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट रहे और वहाँ से प्रथम श्रेणी के सदराला होकर फिर पूना आए। चार महीने के बाद आप पूना और सातारा की कचहरियों के निरीक्षण के कार्य के लिये असिस्टेंट स्पेशल जज नियुक्त हुए। ६ अगस्त १८८१ से उन्होंने यह काम आरंभ किया। इसमें साल में आठ महीने आपको दौरे ही पर रहना पड़ता था। आपका दफ्तर भी आपके साथ रहता था।

इस काम में इनके अफसर अर्थात् स्पेशल जज वही डाकृर पौलन थे जो धूले में असिस्टेंट कलेक्टर थे। इस काम को रानडे ने बड़े उत्साह से किया, क्योंकि स्पेशल जज के कर्त्तव्यों में एक कार्य यह भी था कि दक्षिण देश की रैयत के ऋण को हलका करें। बहुत से कृषक इतने ऋणी हो गए थे कि इनके बाप दादा के समय की जायदाद गिरवी रक्खी हुई थी और ये लोग साहूकारों की हथेली के नीचे दबे जाते थे। दुःख को दूर करना तो इनके मन के अनुकूल कार्य था ही, इसलिये इस काम को वे बड़ी सहानुभूमि और श्रम से करते थे। सन् १८८१ की वार्षिक रिपोर्ट में डाकृर पोलन ने इनके संबंध में यह लिखा था कि—"इन महानुभाव के चित्त की ग्रहण-शक्ति और तीव्र निरीक्षण-शक्ति के कारण इनकी सम्मतियाँ महत्व की होती हैं।" १८८२ की वार्षिक रिपोर्ट में फिर डाकृर पोलन ने इस प्रकार इनकी प्रशंसा की—"इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि इनके विचार अत्यंत आदर और श्रद्धा के योग्य हैं क्योंकि इनमें स्वाभाविक निरीक्षण शक्ति के साथ यह गुण भी है कि वे प्रत्येक विषय की पूरी तफसील को कार्यरूप में लाने के साधन का ज्ञान भी रखते हैं।"

२७ फरवरी १८८४ को वे पूना के खफ़ीफ़ा जज १२००) मासिक वेतन पर नियुक्त हुए। १ जनवरी से ३० अप्रैल १८८५ तक जजी के काम के साथ साथ वे डेकन कालेज में न्याय शास्त्र के अध्यापक का भी कार्य करते रहे, पर एकौंटेंट जेनरेल

ने इस पर एतराज किया और लिखा कि कोई अफसर एक ही समय में दो पदों का वेतन नहीं ले सकता। इस लिये अध्यापक का कार्य इनको छोड़ देना पड़ा।

३२ नवंबर १८८५ को डाक्टर पोलन छुट्टी लेकर विलायत गए। सरकार ने रानडे को उनके स्थान पर स्पेशल जज नियुक्त किया। डाक्टर पोलन ने भी इसके लिये उनकी सिफारिश की थी। अब इनको पूना, सातारा, अहमदनगर और सोलापुर के जिलों में दौरा करना पड़ता था। जब वे असिस्टेंट स्पेशल जज थे उन्हें डाक्टर पोलन के आज्ञानुसार काम करना पड़ता था, यद्यपि उक्त साहब उनके कार्यों में बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करते थे। स्पेशल जज होने पर उन्हें अब पूरी स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। स्पेशल जज का यह कर्त्तव्य था कि गाँवों के मुक़द्मों का फैसला करने के लिये वह पंच मुकर्रर कर दे और फिर गाँवों में स्वयं जाकर पंचों के फैसलों की जाँच करे। इसमें रैयत का बहुत कम खर्च होता था और उनको महीनों या सालों कचहरी नहीं दौड़ना पड़ता था। पोलन साहब किसी एक स्थान पर जाकर पंचों को बुलवा भेजते थे और उनके कागजों की जाँच कर लेते थे, परंतु रानडे उनके गाँवों में जाकर अपना काम करते थे। इस में उनको बहुत कष्ट भी होता था। कभी भोजन समय पर नहीं मिलता, कहीं कहीं सिवाय पैदल चलने के और किसी तरह जाना भी कठिन होता। इनकी स्त्री भी इनके साथ रहतीं। एक दिन रमाबाई ने कहा—“यदि प्रत्येक गाँव में न जाकर तालुके

में ही सभों को बुलवा कर निरीक्षण कर लिया जाय तो हम लोगों को इतना कष्ट न सहना पड़े।” आपने उत्तर दिया—“सरकार ने हमें चैन से भत्ता लेने के लिये नियुक्त नहीं किया है। हमारी नियुक्ति से सरकार का मुख्य उद्देश्य कृषकों की अड़चनों को जानना और उन्हें दूर करना है। परंतु दिहात में जाने का कष्ट न उठाने से वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। गाँवों में जाकर ही हम वहाँ के निवासियों के मन की बातें जान सकते हैं। व्यर्थ कष्ट उठाने का हमें शौक नहीं।” दौरे में तंबू, घोड़ा, गाड़ी, बैलगाड़ी, इत्यादि सब साथ रहते थे, परंतु जब ऐसे गाँवों में उन्हें जाना पड़ता कि जहाँ ये सब चीजें नहीं जा सकती थीं तब दो एक नौकर लेकर वे गाँव के किसी मंदिर अथवा धर्मशाला में ठहर जाते और वहीं अपना सब काम करते। भोजन के समय किसी को हटवाते भी नहीं थे। एक कोने में बैठ कर मिठाई इत्यादि जो कुछ मिलता खा लेते। गाँव के अहलकार, सेठ, साहुकार, अध्यापक, इत्यादि आप से मिलने आते। उन सब से मालगुजारी, फ़सल, व्यापार, त्योहार, पाठशाला, पुराण की कथा, भजन मंडली आदि सब विषयों पर बात चीत करते। कभी कभी उन लोगों को टहलने साथ ले जाते। इस प्रकार आपस में मेल करना उनके लिये सुगम हो जाता और जब कभी वे अपने अधीन सदराला लोगों के फैसलों को रद्द कर देते तब वे भी मुक्तकंठ से इस बात को स्वीकार करते कि रानडे ने ठीक किया। बहुत से अंग्रेजों की यह

सम्मति थी कि जिस नियम के अनुसार खेतिहर लोगों की दशा सुधारने का सरकार प्रयत्न कर रही है, वह दोषपूर्ण है। इस नियम का नाम १८७६ का डेकन रैयत्स रिलीफ ऐक्ट है। इसके विरोधी यह कहते थे कि इस देश में निर्लोभी, निष्पक्ष, सच्चे और समझदार पंच मिलने कठिन हैं। हाईकोर्ट के एक अंग्रेज जज ने जो पीछे से बंबई की एक्ज़ेक्यूटिव कौंसल के मेंबर हो गए थे, बड़े जोर से इस ऐक्ट का विरोध किया और यहाँ तक कह डाला कि रैयत के दुःख तभी दूर होंगे जब यह मंसूख कर दिया जायगा। रानडे ने इस मत का प्रबल प्रमाणों से खंडन किया। उन्होंने सिद्ध किया कि यदि गाँव के पंचों के फैसलों का निरीक्षण सहानुभूति और योग्यता से किया जाय तो पंचों को एक प्रकार की शिक्षा मिलेगी और थोड़े ही दिनों में भारतवासियों में अपने झगड़ों को आप ही तै करने की प्रथा फिर से चल पड़ेगी। सन् १८६४ में इस ऐक्ट संबंधी जो घोषणापत्र सरकार ने निकाला था उसमें रानडे की इस प्रकार प्रशंसा की थी—"इस ऐक्ट द्वारा सब कष्ट निसंदेह दूर नहीं हो सकते, परंतु इसको सब मानते हैं कि इससे लोगों में अपव्यय न करने की ओर रुचि होगी। गवर्नर-इन-कौंसिल को पूरी आशा है कि मिष्टर जौप का शासन ऐसा ही अच्छा होगा जैसा कि मिस्टर जस्टिस रानडे का था जिनके (इस ऐक्ट के) प्रबल समर्थन और सुंदर निरीक्षण ही का फल था कि यह ऐक्ट ऐसा लाभदायक हुआ जैसा संक्षेप में १८६३ की रिपोर्ट में वर्णित है।"

इन्हीं दिनों गायकवाड़ बड़ोदा ने इनको ५०००) मासिक पर अपने यहाँ दीवान बनाना चाहा परंतु रानडे अपने कार्य में जितनी स्वतंत्रता और जितने अधिकार माँगते थे उनको महाराज ने देना स्वीकार नहीं किया।

१३ अप्रैल १८८६ को लार्ड डफरिन की सरकार ने एक कमेटी सर चार्ल्स इलियट के सभापतित्व में इस विषय पर विचार करने के लिये बनाई थी कि भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था कैसी है और उसमें क्या सुधार हो सकता है। इसके एक सभासद् सर विलियम हंटर भी थे। इसमें रानडे ही केवल एक हिंदुस्तानी थे। इसके लिये रानडे को प्रायः चार मास तक शिमला में, एक मास मद्रास में और कई महीनों तक कलकत्ते में रहना पड़ा। इस कमेटी ने चुने चुने लोगों के इजहार लिए और बड़ी भारी रिपोर्ट निकाली। परंतु उन सब का फल कुछ भी न हुआ। कमेटी में रानडे ने बड़ी योग्यता और स्वतंत्रता से अपने विचार प्रकट किए और इसी के उपलक्ष में उनको सी० आई० ई० की उपाधि मिली।

कमेटी की समाप्ति पर सन् १८८८ में आप फिर स्पेशल जजी के काम पर लौटे। स्पेशल जजी की अवस्था में आप तीन बेर बंबई की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सरकार की ओर से मेंबर बनाए गए। सन् १८८५ और १८९० में लार्ड रे साहब गवर्नर और १८९३ में लार्ड हैरिस साहब गवर्नर ने इनको कानून बनाने में सरकार की सहायता करने के लिये कौंसिल

का मेंबर नियत किया। कौंसिल का काम जिस योग्यता से उन्होंने किया उसका परिचय इस बात से मिल जायगा कि ६ मई १८८७ को लार्ड रे ने जो पत्र इनके पास भेजा था उसमें लिखा था—"मुझे आशा है कि कौंसिल के मेंबर होकर जो अमूल्य सेवा आपने की है उसके लिये मेरे अनेक धन्यवाद आप स्वीकार करेंगे।"

लार्ड हैरिस ने भी १० मार्च १८९२ को इनके पास एक पत्र भेजा था जिसमें लिखा था—"आपने जो कौंसिल के विचारों में हमारी उज्ज्वल सहायता की थी उसके लिये मैं इस पत्र द्वारा आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।"

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि समय समय पर रानडे को देशी रियासतों में नौकरी करने के लिये कई बेर बुलावा जाता रहा। जब वे पूना में सदराला थे तब बड़ोदा में दादाभाई नौरोजी दीवान थे। उन्होंने दीवानी के महकमें की अफसरी के काम के लिये इनको चुना था, परंतु इन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया। सर तानजोर माधवराव ने दीवान होने पर इनको फिर बड़ोदा में २०००) मासिक पर चीफ जस्टिस के पद पर बुलाना चाहा। महाराजा होल्कर ने दो बार इनको ३५००) मासिक पर दीवान बनाना चाहा। सर माइकल वेस्ट्रॉप और सर चार्लस सारजेंट जो भिन्न भिन्न समयों पर बंबई हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस थे, इनको पूर्ण आशा दिखाते रहे कि आप अँग्रेजी सरकार में उच्च से उच्च पद

जो हिंदुस्तानी को मिल सकता है, पाएँगे। सर विलियम वेडरबर्न ने भी एक पत्र में इनको यही सलाह दी थी। उन्होंने लिखा था—"देशहित का विचार करके मैं तो यही सलाह दूँगा कि आपके लिए पूना ही में रहना अच्छा है; इस समय पूना बुद्धिमत्ता, स्वतंत्रता और शांति से देशसेवा करने में सारे भारतवर्ष में अग्रगण्य होता हुआ प्रतीत होता है। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि पूना का यह गौरव बहुत कुछ आपके प्रभाव के कारण है। यह प्रभाव वहाँ से हटा लिया जायगा तो देश के दुर्भाग्य होंगे।" इन्हीं कारणों से रानडे ने देशी रियासतों की नौकरी स्वीकार नहीं की।

१ सितंबर १८९३ को बंबई हाई कोर्ट के सुप्रसिद्ध जज काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग का देहांत हो गया। उनकी मृत्यु पर रानडे उनके स्थान पर चुने गए। उस समय वे स्पेशल जजी के काम पर सोलापुर में दौरे पर थे। सोलापुर नगर में इस समाचार को सुनकर बड़ा आनंद हुआ और इनके बहुत मना करने पर भी उन लोगों ने स्टेशन से चलते समय बड़े समारोह के साथ इनकी बिदाई की। वे सोलापुर से पूना आए। वहाँ के लोगों की खुशी का क्या कहना था। उन दिनों रानडे का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, परंतु वहाँ के लोग रात दिन इनको घेरे रहते थे और वे इतने प्रसन्न थे कि मानों उन्हीं की स्वयं नियुक्ति हुई है। भारतवर्ष में प्रायः सभी समाचारपत्रों ने इस पर प्रसन्नता प्रकट की। प्रत्येक प्रांत से उनके पास बधाई के

पत्र आए। विलायत से लार्ड रे, सर जेम्स पील, सर रेमंड वेस्ट, सर विलियम वेडरबर्न इत्यादि महानुभावों ने इनको पत्र भेजे। सर जेम्स पील ने अपने दूसरी नवंबर १८८३ के पत्र में लिखा कि "मुझे यह जान कर बड़ा संतोष हुआ कि आप हाई कोर्ट के जज हुए। मिस्टर जस्टिस तैलंग के स्थान पर किसी का भी जज नियुक्त होना बड़े गौरव की बात है, परंतु मुझे पूरी आशा है कि आपको सब लोग इस आदर के योग्य समझते हैं। आपने जो अब तक सेवा की है उसका यह ठीक पुरस्कार है। स्पेशल जजी का जो कार्य आपने किया है वह साधारण और सहल नहीं है"—इत्यादि।

सर रेमंड वेस्ट के दूसरी नवंबर के पत्र के कुछ अंशों का अनुवाद करना आवश्यक है क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि वे अँग्रेज भी जो प्रायः इनसे सहमत नहीं रहते थे इनका कितना आदर करते थे। उन्होंने लिखा था—"मैं आपके हाई कोर्ट जज होने पर आपको बधाई देने के लिये चंद सतरें लिखता हूँ। यदि मैं इस समय बंबई गवर्मेंट का सलाहकार होता तो जिसको जज करने का मैं प्रस्ताव करता वही महाशय जज नियुक्त किए गए। हमारे विख्यात और विद्वान् मित्र तैलंग की मृत्यु से जो जगह खाली हुई है उसके लिये आपसे अच्छा कोई दूसरा नहीं मिल सकता। हाई कोर्ट में पहुँच कर आपके देशहित की सीमा बढ़ जायगी × × × × × शायद आप राजनैतिक संस्थाओं में अब काम न कर सकें, परंतु आप

के जजों का उच्च पद और आपकी योग्यता जिसको सब लोग स्वीकार करते हैं आपको इस बात का अवसर देगी कि आप अपना प्रभाव देश के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर डालें जिसमें लोगों का उपकार हो और उस गवर्मेंट का आदर बढ़े कि जिसके आप एक अंग हैं। इस बात से आपकी जाति के नवयुवक लोगों का और विशेष कर जजों का उत्साह बढ़ेगा कि वह योग्यता और बुद्धि का पात्र जिस पर एक बेर ध्यान नहीं गया और दूसरी बेर कोप की दृष्टि की गई उसका अंत में आदर ही हुआ और मुझे पूरी आशा है कि हाई कोर्ट के हिंदुस्तानी जज अब तक जैसे योग्य होते चले आए वही योग्यता आपके आने से कायम रहेगी।"

सर रेमंड वेस्ट ने इस पत्र में स्पष्ट लिख दिया कि रानडे की बुद्धि और योग्यता पर कई बेर ध्यान नहीं गया और कभी कभी उन पर वृथा कोप दिखलाया गया। उनका संकेत उस समय पर है जब सर रिचर्ड टैंपल की गवर्नरी के काल में इनको नासिक और धुले जाना पड़ा था। उनके सब मित्रों का विश्वास था कि जस्टिस नानाभाई हरिदास की मृत्यु पर रानडे जज बनाए जाँयगे, परंतु काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग उस समय वकीलों में प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचे हुए थे। उनकी संस्कृत की व्युत्पत्ति, उनकी वक्तृत्व-शक्ति, उनकी देश-हितैषिता ने सबको आकर्षित कर लिया था। तैलंग रानडे के शिष्य थे, पर तिस पर भी वकील होने के कारण उनकी ओर ध्यान पहले

गया। इस बात से रानडे को भी बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई थी और तैलंग महोदय को बधाई देने के लिये बंबई में जो सभा हुई थी उसमें रानडे ने बड़ी प्रभावशाली वक्तृता दी थी।

जिस प्रकार अँग्रेज मित्रों ने उनको पत्र भेजे थे उसी प्रकार उनके हिंदुस्तानी मित्रों के भी पत्र आए थे। भारतवर्ष के हर प्रांत के समाचार पत्रों ने इनकी प्रशंसा की थी और इनकी नियुक्ति पर अत्यंत संतोष प्रगट किया था। पूना में उनकी बिदाई में कितने ही भोज और पान सुपारी के जलसे और सभाएँ हुईं। कहीं कहीं तो लोगों ने इनकी इच्छा के विरुद्ध खुशी में आतिशबाजी भी छुड़वा दी। रानडे पूना में २२ वर्ष तक रह चुके थे, इस लिये वहाँ के लोग उनसे बड़ा स्नेह रखते थे।

बंबई पहुँचने पर आपका बड़ा आदर हुआ। नवंबर १८९३ से जनवरी १९०१ तक आपने हाईकोर्ट की जजी की। इनके साथी जज और बैरिस्टर वकील इनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। इनके फैसलों का बड़ा आदर होता था। बहुत से अनुभवी विद्वानों की सम्मति है कि यदि रानडे अपने जीवन काल में हाईकोर्ट की जजी ही करते तो भी उनका नाम चिरस्मरणीय रहता क्योंकि उनके फैसलों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे हर एक मुकदमें में सत्य का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते थे। चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने उनके जजी के कार्य के संबंध में उनकी मृत्यु पर कहा था—"उनके साथ जजी का

काम थोड़े दिन भी करने से मालूम हो जाता था कि वे गंभीर और सहानुभूति पूर्ण जज थे जिनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी उच्च श्रेणी की थी और जिनको सदा जो उचित है वही करने का प्रबल विचार रहता था। उनकी सम्मति उनके सहायक जजों के लिये बड़ी अमूल्य थी और उनके फैसले भविष्य में उनके पांडित्य और विद्वत्ता के स्मारक रहेंगे।"

हिंदू धर्म शास्त्र का ज्ञान, साक्षी की जाँच पड़ताल, भारतवासियों के चारित्र से पूर्ण परिचय, परिश्रम इत्यादि गुणों की, जो रानडे में थे उन सब जजों ने प्रशंसा की है जो उनके साथ काम करते थे। जजी की कुर्सी पर बैठकर उन्होंने किसी वकील या गवाह या मुअक्किल को कठोर शब्द नहीं कहा। वे स्वयं घर से तैयार आते थे और हर एक मुकदमें की बातें उन्हें याद हो जाती थीं। इस लिये, वकील और मुअक्किल सब का उन पर विश्वास था। सब समझते थे कि वे न्याय करेंगे।

(६) देश-सेवा।

"Wanted a man who is larger than his calling, who considers it a low estimate of his occupation to value it merely as a means of getting a living. Wanted a man who sees self-development, education and culture, discipline and drill, character and manhood in his occupation."

—Marden

All good work is God's work.

स्वर्गवासी ह्यूम साहब ने जिनको कांग्रेस का जन्मदाता कहते हैं, जो भारतीय सिविल सार्विस के बड़े उच्च पदाधिकारी रह चुके थे और जिनसे उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध लोगों से परिचय था, रानडे के संबंध में लिखा था कि "भारत में यदि कोई व्यक्ति ऐसा था जिनको पूरे चौबीस घंटे अपने देश का ही विचार रहता था तो वह व्यक्ति रानडे था।" मिस्टर ह्यूम उनको "गुरु महादेव।" कह कर पुकारते थे। रानडे के जीवन का बहुत सा समय पूना और बंबई में व्यतीत हुआ था। डाक्टर पोलन कहा करते थे कि रानडे पूना के बिना छत्रधारी राजा हैं। जब तक वे पूना में रहे, कोई भी संस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसको या तो उन्होंने स्थापित न किया हो अथवा उसकी उन्नति में योग न दिया हो।

सन् १८६२ ई० में 'इंदुप्रकाश' पत्र अँग्रेजी और मराठी में निकलने लगा। इसके अँग्रेजी विभाग के संपादक रानडे नियुक्त हुए। उस समय इस देश में पत्रों की संख्या बहुत कम थी और पत्र-संपादन की योग्यता भी लोगों में कम थी। रानडे के लेखों ने सरकार और शिक्षित-समाज को इस पत्र की ओर आकर्षित करा दिया। उनके अनेक बड़े महत्त्व पूर्ण लेख छपे जिन्होंने, विशेष कर पानीपत के युद्ध की 'शताब्दी' के लेख ने, इस पत्र को बड़ा सर्व प्रिय कर दिया।

सन् १८७१ में वे पूना के सब जज हुए थे और १८९३ तक

प्राय- वहीं रहे। बीच बीच में यदि कहीं बदली भी हुई तो घूम फिर कर फिर वे पूना में पहुँच जाते। पूना के देशभक्त और भिन्न भिन्न संस्थाओं के प्रवर्त्तक और कार्यकर्त्ता लोगों की सदैव इनके यहां भीड़ लगी रहती थी। देशहित का ऐसा कोई कार्य नहीं था जिसमें उनको अनुराग न हो। उनका मत था कि देश में धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक राजनैतिक उन्नति एक साथ होनी चाहिए। वे दूरदर्शी और गंभीर थे। उनका विश्वास था कि धैर्य, शांति और विचार से कार्य अधिक होता है और उसका प्रभाव अमिट होता है। उन्हें विद्रोह, विप्लव और अशांति से घृणा थी। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था— "संशोधन करनेवालों को कोरी पटिया पर लिखना आरंभ नहीं करना है। बहुधा उनका कार्य यही है कि अर्द्धलिखित वाक्य को पूर्ण करें। वे जो कुछ उत्पन्न किया चाहते हैं, अपने अभिलषित स्थान पर तभी पहुँच सकते हैं जब वे जो कुछ प्राचीन काल में सत्य ठहराया गया है उसे सत्य मान लें और बहाव में कभी यहां और कभी वहां, धीमा सा घुमाव दे दें, न कि उसमें बाँध बाँधें अथवा उसको किसी नूतन स्रोत की ओर बरबस ले जाँय।" पर उनके शब्दकोष में शांति का अर्थ आलस्य नहीं था। जहाँ जहाँ वे रहे, वहाँ की अवस्था के सुधार में तन, मन, धन से लग जाते। पूना में पचीसों संस्थाएँ हैं जिनको उन्होंने जीवन-प्रदान किया था। सार्वजनिक सभा का, जिसको सन् १८७१ ई० में स्वदेशी आंदोलन के जन्मदाता श्रीयुत गणेश

वासुदेव जोशी ने स्थापित किया था और जो किसी समय में प्रसिद्ध राजनैतिक सभा थी, सब कार्य प्रायः येही किया करते थे। राजनियम संबंधी सुधार पर जितने पत्र यह सभा गवर्मेंट को भेजा करती थी, प्रायः उन सबको येही लिखा करते थे। इन्हीं की सलाह से सन् १८७६ के दुर्भिक्ष में इस सभा ने अकाल-पीड़ित लोगों की रक्षा के लिये ऐसे उत्तम उपाय किए थे जिन से यह सबकी प्रशंसापत्र बन गई थी। इन्होंने इस सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जिसमें वे स्वयं बड़े गंभीर, सामयिक और महत्त्व के लेख लिखते थे। इनकी मृत्यु के अनंतर टाइम्स आव इंडिया पत्र ने लिखा था कि इनके वे पुराने लेख यदि पुस्तकाकार छपवा न लिए जाँयगे तो एक प्रसिद्ध देशहितैषी के विचारपूर्ण लेख गुप्त ही रह जाँयगे। हर्ष का विषय है कि श्रीमती रानडे ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया है।

पूना के फर्ग्युसन कालेज के भी जो इस समय भारतवर्ष में विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों के आत्म-समर्पण में सबसे बड़ा कालेज समझा जाता है, संस्थापकों में से रानडे थे। पूना पुस्तकालय और प्रार्थना समाज के भवन उन्हीं की सहायता और उत्तेजना से बने थे। सन् १८९५ में वसंत व्याख्यान माला रानडे और उनके मित्रों ने स्थापित की थी जिसमें इतिहास, पुराण, समाजसुधार, राजनीति, शिक्षा आदि विषयों पर मराठी भाषा में प्रतिवर्ष व्याख्यान होते थे और अब भी हुआ करते हैं।

पूना में रानडे से पचास वर्ष पहले एक सभा थी जो मराठी भाषा में पुस्तकों के अनुवाद करती थी। यह सभा टूट गई थी और इसका रुपया बंबई के एकौंटेंट जेनरल के दफ्तर में जमा था। रानडे का विचार इसी प्रकार की एक सभा खोलने का था। जब उनको मालूम हुआ कि पुरानी सभा का रुपया गवर्मेंट में जमा है तो उन्होंने सभा का पुनरुद्धार किया और सरकार में जमा किया हुआ रुपया व्याज-सहित वसूल किया।

पूना में एक कंपनी है जिसके द्वारा रेशमी और सूती कपड़े बनते हैं। एक समय में इसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गई थी, परंतु रानडे ने इसकी रक्षा की। इसी प्रकार वहाँ के पेपर मिल को इन्हों ने सुधारा। वक्तृतोत्तेजक सभा, वसंत व्याख्यानमाला इत्यादि के प्रबंध में भी आपने योग दिया। एक पंचायत आपने स्थापित कराई थी जो मुकद्मेवालों में मेल कराती थी। हीराबाग में टौनहाल आप ही के उद्योग से बना था। एक अजायब घर भी आपने स्थापित कराया था। इसी प्रकार की अनेक संस्थाएँ आपके पूना में निवास काल में स्थापित हुई थीं। जब वहाँ से इनकी नासिक और धुले की बदली हुई तब वे छुट्टियाँ पूना ही में बिताते थे। दिन के बारह, एक बजे तक और रात को भी १० बजे तक लोग इनके यहाँ जमा रहते थे। हर रोज किसी न किसी कमेटी या सभा या अन्य देशहित कार्य के आरंभ करने के प्रस्ताव होते थे। कभी कभी उनको

केवल दो घंटे सोने का अवकाश मिलता था। एक दो बार तो नवीन विचारों की चिंता ही में सबेरा हो गया। इस प्रकार पूना में वे अपनी छुट्टियाँ बिताते थे। जब वे पूना से बंबई हाईकोर्ट की जजी पर गए तो उन्होंने २५०००) अनेक संस्थाओं को दान दिया था।

जब आप नासिक बदल गए तो वहाँ जा कर भी आपने प्रार्थना-समाज स्थापित की। स्त्रियों के व्याख्यान, उपदेश इत्यादि का प्रबंध किया। कन्या पाठशाला की उन्नति की। फिर जब धुले ऐसी जगह में बदली हो गई तो वहाँ जाकर भी वे देशसेवा के अनेक उपाय करने लगे। जब वे दौरे का काम करते थे तब गाँवों में या कसबों में भी कन्या पाठशालाएँ अथवा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

बंबई विश्वविद्यालय के फेलो आप १८६५ ई० में चुने गए थे। बंबई पहुँच कर आपने युनिवर्सिटी में भी काम करना शुरू कर दिया। उस समय सर मंगलदास नाथू भाई ने मृत्यु से पहले एक वसीयतनामे द्वारा ३$\frac{१}{२}$ लाख रुपया युनिवर्सिटी को देने के लिये लिखा था, परंतु उनके उत्तराधिकारियों में झगड़ा हो गया और इस अवस्था में वे युनिवर्सिटी को एक पैसा भी देना नहीं चाहते थे, किंतु रानडे ने प्रेम और युक्ति द्वारा उनको रुपया देने पर राजी कर लिया। इस बात को बंबई के लाट साहब लॉर्ड नार्थकोट ने कनवोकेशन के व्याख्यान में इनकी मृत्यु के उपरांत कहा था।

विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं को स्थान दिलाने का भी उन्होंने अनेक वार प्रयत्न किया। युनिवर्सिटी परीक्षाओं के स्थापन होने के आरंभ के समय में सन् १८५९ में देशीभाषाएँ पढ़ाई जाती थीं, परंतु १८७० से उनको परीक्षाओं से यह कह कर निकाल दिया गया कि इन में संस्कृत और अरबी ऐसा साहित्य नहीं है। रानडे ने एक बेर विश्वविद्यालय के अनेक मेंबरों के हस्ताक्षर से, जिनमें कई मुसलमान और पारसी भी थे, एक पत्र युनिवर्सिटी में इस विषय का भिजवाया कि बी. ए. और एम. ए. के अनेक विषयों में मराठी और गुजराती को भी स्थान दिया जाय और प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकार रहे कि यदि वह चाहे तो इन देशी भाषाओं में भी परीक्षा दे सके। जब यह विषय सिंडिकेट में उपस्थित किया गया, रानडे ने बड़ी योग्यता से इसका समर्थन किया, पर जब उपस्थित सभासदों की सम्मति ली गई तब आधे इसके पक्ष में और आधे विरुद्ध हो गए। जो महानुभाव सभापति के आसन पर विराजमान थे उन्होंने उनके विरुद्ध सम्मति दी। इस पर यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ। देशी भाषाओं के भक्तों को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उनमें से कई एक का उत्साह कम हो गया, परंतु रानडे ने उनको समझाया कि इस विषय में कुल सभासदों में आधे का भी इस पक्ष में हो जाना भविष्य के लिये अच्छे लक्षण हैं। जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे उनको अपनी ओर लाने के लिये उन्होंने इस समय मराठी भाषा का एक इतिहास लिखा। बहुत

से लोगों का विश्वास था कि देशी भाषाओं में केवल गँवारी बातें हैं, उनमें साहित्य का नाम भी नहीं है। रानडे ने ग्रंथों के नाम, ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण और उनकी विषय-सूची लिख कर इस इतिहास में यह दिखलाया कि मराठी भाषा में पद्य के बहु-मूल्य ग्रंथ मिलते हैं जिनमें विद्वानों को साहित्य का पूर्ण रसस्वाद प्राप्त हो सकता है। हाँ गद्य के ग्रंथों का अवश्य अभाव है, पर यह दोष संस्कृत में भी है। इस प्रकार लोगों का मत परिवर्त्तन करने का पूरा प्रयत्न करके रानडे ने फिर इस विषय को सिंडिकेट में उपस्थित कराया। सिंडिकेट ने इस विषय पर विचार करने के लिये तीन सभासदों अर्थात् मिस्टर रानडे, मिस्टर (सर फिरोजशाह) मेहता और डाक्टर माकीकन की एक सब-कमेटी बना दी। इस सब-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय का समर्थन किया कि अँग्रेजी कोर्स के साथ संस्कृत और फार्सी के बदले मराठी या गुजराती पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। सब-कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि मराठी और गुजराती जीवित भाषाएँ हैं। इन भाषाओं और उनके इतिहास का ज्ञान बालकों के लिये अत्यंत लाभकारी होगा। उन्होंने यह भी बतलाया कि अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग, अँग्रेजी-साहित्य, अँग्रेजी इतिहास, और विज्ञान शास्त्र इत्यादि विषयों पर देशी भाषओं में जन-समूह के उपकारार्थ उस समय तक ग्रंथ नहीं लिख सकते जब तक उनको इन भाषाओं का ज्ञान न होगा। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से इस सब-कमेटी ने

प्रस्ताव किया कि एम. ए. परीक्षा के लिये मराठी और गुजराती रक्खी जाय। इसका पढ़ना विद्यार्थियों की इच्छा पर छोड़ा जाय। सब-कमेटी की रिपोर्ट का बहुत सा अंश रानडे ने लिखा था। २६ जनवरी १६०१ को सेनेट ने इस रिपोर्ट को स्वीकार किया और गुजराती और मराठी के साथ कानड़ी भाषा को एम. ए. की परीक्षा में स्थान दिया। परंतु इससे पूर्व रानडे इस संसार से बिदा हो चुके थे।

रानडे की देशसेवा अनेक मार्गों में झुकी हुई थी। विद्यार्थियों में विद्यानुराग और देश-सेवा का वे संचार करते थे। नवयुवकों के उत्तेजक थे। अनेक संस्थाओं के वे प्रवर्त्तक थे। राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक, समाज-सुधार और विद्या-प्रचार संबंधी उनके अनेक कार्य देशवासियों की संपत्ति के समान हैं। इसलिये उनका अलग अलग वर्णन करना आवश्यक है।

---

(७) धार्मिक विचार।

"Every sect supposes itself in possession of all truth, and that those who differ are so far in the wrong; like a man travelling in foggy weather, those at some distance before him on the road he sees wrapped up in the fog as well as those behind him, and also the people in the fields on each side;

but near him all appears clear, though in truth, he is as much in the fog as any of them."

—Benjamin Franklin.

रानडे प्रार्थना-समाज के सभासद थे जो दक्षिण प्रांत में १८६७ में चलाई गई। प्रार्थना-समाज के सिद्धांत प्रायः वे ही हैं जो ब्रह्मसमाज के हैं। इस समाज के लोग एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं। मूर्त्तिपूजा और अवतार नहीं मानते। किसी ग्रंथ विशेष को ईश्वरकृत नहीं समझते। संसार के सब धर्मग्रंथों को मनुष्य के स्वभाव में धार्मिक रुचि के अस्तित्व की साक्षी मानते हैं। एक ईश्वर को माननेवालों का क्या विश्वास होना चाहिए, इस विषय पर रानडे ने एक लेख "A theist's confession of faith" लिखा था। उसमें लिखे हुए विचार उनके धार्मिक मंतव्य मानने चाहिएँ। वे संक्षेपतः ये हैं—

१—मानवी प्रकृति में धर्म की लालसा स्वाभाविक है। समस्त युगों में, समस्त देशों में और समस्त जातियों में किसी न किसी रूप में पूजा अर्चना जारी रही है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के हृदय में एक प्रकार की जागृति सदा बनी रहती है कि हम निस्सहाय और परतंत्र हैं और कोई अद्भुत और गुप्त शक्ति हम सबके बाहर और ऊपर अवश्य है।

२—धार्मिक सिद्धांत गणित और अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों के सिद्धांतों की नाईं सिद्ध नहीं किए जा सकते। उनका संबंध

मनोविज्ञान से है। मनुष्य का अनुभव सीमाबद्ध और लौकिक है। धर्म के सिद्धांत अलौकिक हैं।

३—सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति, ईश्वर और सृष्टि, आत्मा और प्रकृति में परस्पर संबंध इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनपर मनुष्य को विचार करने में अपनी बुद्धि की निर्बलता स्वीकार करनी पड़ती है।

४—प्राकृतिक और आत्मिक दुःखों की उत्पत्ति, मनुष्यों की सीमाबद्ध स्वतंत्रता, शरीर से पृथक् होने के उपरांत और उस से पूर्व आत्मा की ठीक ठीक अवस्था, ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके उत्तर हृदय से उठते हैं और जिन पर मनन करने से बुद्धि की सबलता प्रतीत होती है; परंतु शंका पर शंका उठती ही आती है जिन सब का समाधान शीघ्र नहीं होता।

५—मनुष्य की धार्मिक जागृति के दो अंग हैं,—एक बुद्धि से संबंध रखता है, दूसरा हृदय से। पहला दर्शनादि का ज्ञान है, दूसरा कर्म। यद्यपि मतमतांतर अनेक हैं, परंतु धर्म एक ही है। ईश्वर में भक्ति और मनुष्य से प्रेम, यद्यपि ये दो भिन्न भिन्न सिद्धांत हैं, परंतु ये मनुष्य में स्वाभाविक हैं और इनका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर विलक्षण पड़ता है।

६—ज्यों ज्यों मनुष्य की बुद्धि में वृद्धि होती है, ईश्वर के एक होने में उसका विश्वास बढ़ता जाता है। एक ईश्वर में विश्वास का शनैः शनैः विकास होता है।

७—धर्म का उद्देश्य इन बातों की शिक्षा देना है—मनुष्य

की श्रद्धा, भक्ति और प्रेम का एकमात्र ईश्वर ही आधार है; हृदय, युक्ति, विवेक-शक्ति और धार्मिक भावनाओं से जो ईश्वरीय नियम मालूम हों उनका स्वतः और ज्ञानपूर्वक पालन; अपनी प्रकृति में ईश्वरीय गुणों के कुछ अंशों को लाने का प्रयत्न करना, मनुष्य और ईश्वर के संबंध का ज्ञान प्राप्त करना और दूसरे जन्म में उच्च श्रेणी के अस्तित्व की योग्यता प्राप्त करना।

८—मनुष्यों में निःसहाय और परतंत्र होने के भाव से तात्पर्य यह है कि एक मात्र परमेश्वर ही है जिसका वह आश्रित है। यह भाव हमारी प्रकृति की जाँच और इतिहास की साक्षी से सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में वह भाव यह है कि—ईश्वर है, वह चैतन्य रूप है, वह एक महती शक्ति है, सब कारणों का कारण है, काल और स्थान से वह सीमाबद्ध नहीं है, इस जगत् का शक्तिमान् शासक है और यह जगत् उसकी दूरदर्शिता, सर्वोपरि शक्ति, बुद्धिमता, नेकी, प्रेम, न्याय और पवित्रता से शासित है। वह मनुष्य की आत्माओं का प्रभु, पिता, न्यायकर्त्ता और धार्मिक शासनकर्त्ता है।

९—ईश्वर केवल शक्ति ही नहीं है, न वह वीर्य रूप में है न तत्त्व रूप में। ईश्वर अनेक नहीं हैं। भलाई और बुराई करनेवाले दो ईश्वर नहीं हैं। ईश्वर एक है, दो तीन अथवा उससे अधिक नहीं। न वह अपने ही में लीन ब्रह्म है कि जिसे संसार की अवस्था का कोई ज्ञान न हो।

१०—ईश्वर और वाह्य जगत् में क्या पारस्परिक संबंध है?

इसका ठीक ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य की बुद्धि के बाहर है। शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति होना असंभव है। परंतु ईश्वर प्रकृति को अपने नियमानुसार चलाता है। हर एक वस्तु की उत्पत्ति, वृद्धि, उसका रूपांतर, मनुष्य की इंद्रियों को ईश्वर की शक्ति का प्रमाण देता है। प्रकृति का अस्तित्व, जीवन और उसकी गति ईश्वर की ओर से है।

११—मनुष्य की आत्मा चैतन्य है। उसकी स्थिति पृथक् है। उसकी शक्तियाँ अनेक हैं—सोचना, इच्छा करना, सुख दुःख का अनुभव करना, उचित और अनुचित का जानना इत्यादि। आत्मा अमर है, मृत्यु के समय वह मनुष्य शरीर से अलग होकर रहती है। यह ईश्वर के समान आदि है अथवा इसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परंतु जिस प्रकार ईश्वर की शक्ति और बुद्धिमत्ता का परिचय बाह्य जगत् से मिलता है, उसी प्रकार आत्मिक जगत् में उच्च आदर्श, सद्भाव और सत्कर्मों में उसका प्रभाव प्रतीत होता है।

१२—परमेश्वर जड़ और चैतन्य जगत् को किसी विशेष उद्देश्य से नियमानुकूल चलाता है। ये नियम ईश्वर का विभव प्रगट करते हैं और जीव मात्र को उपकार पहुँचाते हैं। यह उसके नियमों का फल है कि अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम शारीरिक सुख और दुःख तथा आत्मिक संतोष और असंतोष होता है। यह सच है कि कभी कभी पापी को सुख मिलता है

और पुण्यात्मा को दुर्भाग्य में जीवन व्यतीत करना पड़ता है। परंतु यह एक ऐसा प्रश्न है जिससे ईश्वर के न्याय के विषय में शंका नहीं होती।

१३—हमारे जीवन की वर्तमान अवस्था, परीक्षा और तैयारी का समय है। इस जीवन के संयम हमें भविष्य जीवन क्षेत्र के योग्य बनाएँगे। यहाँ बुरे रास्ते पर जाने की संभावना है, हमारे मार्ग में प्रलोभनाएँ हैं जो बाहर और अंदर दोनों हैं और जो हमको उन बातों से विचलित करती हैं जिनको हम उत्कृष्ट और उचित समझते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हमारी यहाँ जाँच हो रही है। इन कठिनाइयों, प्रलोभनों और खतरों से बचने के लिये हम में संयम और भविष्य सुख के लिये वर्तमान समय में कष्ट सहने की बान पड़नी चाहिए। इस लिये यह समय न केवल जाँच का ही है, बल्कि संयम का भी है। यह विचार इस बात से और भी पुष्ट हो जाता है कि हमारा ऐसा स्वभाव ही बनाया गया है कि अनुभव और किसी प्रकार की आदत को बढ़ाने से हम उन्नति करते हैं जिससे हममें आत्मशासन और ईश्वर की इच्छा पर भरोसा रखने के गुण उत्पन्न होते हैं। यदि हमारा कोई जीवन परीक्षा की अवस्था और संयम की पाठ-शाला कहलाने योग्य है तो वह यह वर्तमान ही जीवन है जिस में हमारे चारों ओर जो जाल फैला हुआ है उस से हमें आत्म-शासन के अभ्यास की शिक्षा मिल रही है। संसार की अवस्था और उसके दोष ईश्वर पर उचित भरोसा रखने के भाव बढ़ाते

हैं और प्रलोभनों के हर समय सामने रहने से हमें अपनी अच्छी आदतों को पक्का करने का अवसर मिलता है।

१४—आत्मा अमर है। इस जीवन के कार्यों के अनुसार उसको दूसरे जीवन में सुख अथवा दुःख मिलेगा। यह किस प्रकार होगा, इस भेद का जानना कठिन है। स्वर्ग और नरक का यथार्थ ज्ञान कठिन विषय है, परंतु हम लोगों के इस विश्वास से कि ईश्वर ने इस जगत् को नियमबद्ध रचा है और आत्मा प्रत्येक जीवन में उन्नति करती है, हमको यह प्रतीत नहीं होता कि एक बेर पाप करने से हम सदा नरक में ही पड़े रहेंगे। ईश्वर दयावान्, बुद्धिमान् और न्यायकारी है, इस लिये ऐसा नहीं हो सकता।

१५—मनुष्य स्वतंत्र है, इस लिये अपने कार्यों के लिये वह जिम्मेदार है और उचित उद्योग और आत्मिक बल से वह सब कुछ कर सकता है। परंतु उसके साथ ही जिस समय और जिस स्थान में उसने जन्म लिया हो उसका प्रभाव भी उस पर अवश्य पड़ता है। जैसे लोगों में वह रहता है, जिस प्रकार की शिक्षा उसको छोटी अवस्था में मिलती है, उसकी शारीरिक अवस्था इत्यादि से उसकी स्वतंत्रता में बाधा अवश्य पड़ती है।

१६—पाप की उत्पत्ति क्यों हुई, इसका जानना भी कठिन है। शारीरिक दुःख अज्ञान के कारण होते हैं। यह संसार परीक्षा और संयम का स्थान है और बिना पाप के रहे परीक्षा और संयम हो ही नहीं सकते।

१७—मनुष्य पापी उत्पन्न हुआ है, क्योंकि उसके आदि पुरुषों ने ईश्वरीय नियम का उल्लंघन किया था, यह विश्वास निर्मूल है और इसके मानने से ईश्वर के न्याय में भेद पड़ता है।

१८—यह विश्वास कि परमेश्वर ने पहले ही से कुछ आत्माओं को सुख के लिये और कुछ को दुःख के लिये पैदा कर दिया है, ठीक नहीं, क्योंकि इससे परमेश्वर के गुणों की पूर्णता में भेद आ जाता है।

१९—ईश्वर की उपासना अत्यंत लाभदायक है और इसकी परम आवश्यकता है कि मनुष्य अपने हृदय को पवित्र करने के लिये प्रति दिन उससे मानसिक साक्षात् प्राप्त करने का प्रयत्न करे। हमको ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि जीवन की कठिनाइयों में वह हमारा पथप्रदर्शक बने और उसकी ज्योति हमको धर्म और पवित्रता के मार्ग पर ले जाय। हमारा कर्त्तव्य गद्गद् होकर ईश्वर से विनय करने का है परंतु उसका फल उसकी इच्छा पर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हमारा शुभ किस में है, इसको वही जानता है।

२०—आत्मा को पवित्र बनाने में सदैव हृदय से पश्चात्ताप करना परम लाभकारी है। पश्चात्ताप के अनंतर प्रलोभनों से बचने के लिये दृढ़ता आनी चाहिए। मृत्यु के समय पश्चात्ताप से क्या लाभ? पश्चात्ताप के बाद यदि निरंतर दृढ़ता स्थिर रहे तो हमको एक प्रकार का आत्मिक सुख मिलता है। पश्चात्ताप करने में कभी बिलंब नहीं करना चाहिए। ईश्वर की कृपा कभी

कभी तुरंत प्रतीत होने लगती है जिसका हमें पहले से कभी अनुमान भी नहीं रहता। दैनिक उपासना में हमको ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभू जब हम पापों में पड़ जाँय तब हमको उनसे बचने के लिये अपनी कृपा से सहायता दो।

२१—मनुष्यों को मुक्ति मिलती है ईश्वर की कृपा, भक्ति, उपासना, भगवान् की इच्छा पर अपने को छोड़ने, मनुष्य और परमेश्वर से प्रेम करने और धर्म और पवित्रता के पथ पर चलने से। केवल पश्चात्ताप करने, दिखलाने के लिये दान करने, व्रत करने, पूजा पाठ करने से कोई लाभ नहीं, ये सब तो मुक्ति के लिये साधन मात्र हैं।

२२—मनुष्य मात्र सब उस कर्त्ता के बच्चे हैं और उसकी दृष्टि में सब एक समान हैं। पृथ्वी की सब जातियों पर उसकी बराबर दया है और जो ईश्वर से डरता है और धर्म-पथ पर चलता है वही उसका प्यारा है।

२३—जब मनुष्य की आत्मा, परीक्षा और साधन से पवित्र हो जाती है, जब उसमें इतना बल आ जाता है कि शरीर के साथ अथवा शरीर से अलग होकर वह सांसारिक आडंबरों और पापों से बच सकती है, ईश्वर से पारस्परिक संबंध कर सकती है, ईश्वर की व्यापकता और पवित्रता के उपकार को भले प्रकार समझ सकती है, और उसके जगन्नियंता, पिता और न्ययकर्त्ता होने का जिसकी सेवा में वह प्रेम और आह्लाद से बँधी है अनुभव करने लगती है तब वह मुक्ति को प्राप्त होती है।

२४—ईश्वर का मनुष्य के शरीर में आना अनावश्यक है। पुण्यात्माओं पर ईश्वर की अनन्य कृपा का प्रभाव पड़ता है और ऐसे महात्मा ईश्वर का प्रभाव फैलाते हैं। संसार की सब पवित्र आत्माएँ जो धर्म पर दृढ़ होकर संसार की कठिनाइयों को सहती हैं अथवा उसके कारण मृत्यु को प्राप्त होती हैं, सब मानों उसी की बनाई हुई हैं और उसी की दया और प्रभाव का परिचय अपने शरीर से देती हैं।

२५—ईश्वर का 'इलहाम' वाह्य जगत् में, मनुष्य के हृदय के अंदर और इतिहास में होता है। येही उसके स्थायी और सर्वसाधारण के लिये 'इलहाम' हैं। प्रत्येक युग में और प्रत्येक देश में कुछ पवित्र आत्माएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें कुछ दूरदृष्टा होते हैं, किसी में कवि की ज्योति जलती है, किसी में धर्मोप-देशक का बल होता है, किसी में दार्शनिक की बुद्धि होती है, किसी में कर्मवीर का आत्म-समर्पण होता है। ये सब गुण दूरदृष्टि, ज्योति, बल, बुद्धि, आत्म-समर्पण ईश्वरीय हैं अर्थात् ईश्वर के दिये विशेष गुण हैं। इन्हीं के द्वारा ये लोग देखते, अनुभव करते और शिक्षा देते हैं। उनका समस्त जीवन एक प्रकार का 'इलहाम' है। कोई ग्रंथ विशेष इलहाम नहीं हो सकता।

२६—मनुष्यों की बुद्धि अनेक मंजिलों को पार करती हुई एक ईश्वर के विश्वास पर पहुँच जाती है। उस समय मूर्त्तिपूजा अल्पबुद्धि का परिचय देती है। इससे चित्त एकाग्र होता है, ईश्वर से साक्षात् होता है, ये बातें ठीक नहीं हैं। इसके साथ

ही इसको मुक्तकंठ से मान लेना चाहिए कि मूर्तिपूजा संसार के इतिहास में उन्नति की मंजिल है और इसके न करने से पुराने लोग असभ्यता के कुएँ में गिर पड़ते। परंतु जब यह मंजिल दूर हो गई तब इसका जारी रखना हानिकारक है। मूर्त्तिपूजा द्वारा ईश्वर की उपासना करना उसमें मनुष्यों के दुर्गुणों को लाना है। इससे आत्मा अपवित्र होती है, बुद्धि का नाश होता है और उच्च श्रेणी की भक्ति आने ही नहीं पाती।

२७—करामातों में सृष्टि के नियमों के उलंघन का भाव आता है। इनमें विश्वास अनावश्यक है। जिन लोगों के कथन पर विश्वास करके करामात मानी जाती है उनका भ्रम में पड़ जाना इसकी अपेक्षा अधिक संभव है कि सृष्टि के क्रम में क्षण भर के लिये भी भेद पड़े। सृष्टि का क्रम स्वयं एक करामात है जिससे ईश्वर की साक्षी मिलती है।

२८—त्याग और संन्यास के लिये मनुष्य का जन्म नहीं हुआ इनका अवलंबन करने से अनुभव और संयम से मनुष्य वंचित रह जाता है। परंतु यदि कोई व्यक्ति-विशेष संसार के प्रलोभनों से बचने में अशक्त है और इसके साथ ही पवित्र जीवन रखना चाहता है वह यदि ऐसा करे तो उसको कोई बुरा नहीं कहेगा। मनुष्य-जीवन की एक अवस्था में जब वह सांसारिक कार्यों को कर चुके, एकांत-सेवन धर्म है। इसके साथ ही उस समाज में जिसमें आरामतलबी और स्वार्थ बढ़ जांय, उसमें इस अवस्था का विरोध करने के लिये कुछ मनुष्यों

के उदाहरण जो युवावस्था में निःस्वार्थ सेवा का व्रत लें और निर्धनता, ब्रह्मचर्य और त्याग का अवलंबन करें, अत्यंत श्रेयस्कर होंगे।

२९—सब लोगों को मिलकर उपासना करना उतना ही आवश्यक है जितना एकांत में बैठकर प्रत्येक व्यक्ति का अलग अलग उपासना करना। इससे दूसरों की देखा देखी भक्ति के भाव उत्पन्न होते हैं, किसी के चित्त में अभिमान नहीं आता, ईश्वर की दृष्टि में उसके सब पुत्र एक ही साथ बैठते हैं, इससे हम लोगों में मनुष्य मात्र को एक ही पिता के पुत्र होने के कारण भाई समझने की आदत पड़ जाती है।

३०—पुरोहितों की धर्म की रक्षा के लिये आवश्यकता है परंतु पुरोहितों का समूह परंपरागत नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे उनमें स्वार्थ आ जाता है और उनसे समाज को हानि पहुँचने लगती है। स्मरण रखना चाहिए कि पुरोहितों की संस्था केवल सामाजिक है, न कि ईश्वरीय।

३१—सबको मिलकर उपासना करने के लिये मंदिर और उपासना भवन की आवश्यकता है जो विशाल हो और सजाया हुआ रहे। बहुधा पूजा पाठ के स्थान की सफाई, सजावट और संगीत का मनुष्य के हृदय पर भक्ति उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, पर इन सब में इतनी बनावट न आने पाए कि प्रार्थना और ईश्वर गुणानुवाद के भावों को हमारे हृदय में उठने में बाधा पड़े।

३२—त्योहारों और वार्षिकोत्सव की हमारी वर्तमान् सामाजिक अवस्था में आवश्यकता है क्योंकि इनसे मनुष्यों की भक्ति में उत्तेजना होती है, इनके द्वारा थोड़ी देर के लिये मनुष्य अपने सांसारिक कामों से हटकर ईश्वर की ओर लगता है। जीवन की चिंताओं से मनुष्य दबे रहते हैं, ऐसे अवसर उनको आत्मा को स्वस्थ करने के लिये एक प्रकार की छुट्टी का काम करते हैं। आत्मा धर्म की छाया में आकर शांति प्राप्त करती है।

३३—जीवन की गंभीर घटनाओं के अवसर पर जैसे जन्म, विवाह और मत्यु धार्मिक संस्कार होने चाहिएँ, ईश्वर की उपासना होनी चाहिए जिसमें लोगों पर अपनी जिम्मेदारी का भाव उत्पन्न हो। निःसहाय और गरीब लोगों को दान देना चाहिए। पितरों के श्राद्ध भी आत्मोन्नति के लिये इसी प्रकार करने चाहिएँ।

३४—धार्मिक शिक्षा में निःस्वार्थता, आत्म-त्याग इत्यादि गुण सिखलाने चाहिएँ। दया, दान, परोपकार, आत्म-दमन इत्यादि गुणों का आधिक्य भी बुरा नहीं है, क्योंकि मनुष्य में स्वार्थ के भाव भी मौजूद है। धार्मिक जोश संसार में इतना कम है कि यदि वह किसी में पाया जाय तो उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए परंतु उसको बुरे मार्ग पर जिससे दूसरों की हानि हो न जाने देना चाहिए।

३५—तीर्थयात्रा युक्तियुक्त है। नवीन और ऐतिहासिक स्थानों में जाकर आत्मा में धर्म और भक्ति का उद्गार होता है

जो नित्य की देखी हुई जगह में नहीं होता। इसके साथ ही किसी स्थान विशेष की पूजा करने लगना आत्मा को नीचे की तरफ ले जाना है।

३६—महात्मा और महानुभाव से मिलकर आत्मा पर बड़ा सुंदर प्रभाव पड़ता है और धर्म की ओर रुचि बढ़ती है, परंतु किसी को गुरु बनाकर परमेश्वर और अपने बीच में उसको मध्यस्थ समझना इस सच्चे सिद्धांत के विरुद्ध है कि मनुष्य अपनी मुक्ति अपने ही कर्मों से प्राप्त कर सकता है।

३७—मुक्ति अपने कर्मों से प्राप्त होती है, इसलिये किसी व्यक्ति विशेष को मुक्तिदाता बतलाना या समझना भूल है। कुछ महात्मा धार्मिक गुणों के कारण हमारे शिक्षक, पथ-प्रदर्शक और उपदेष्टा हो सकते हैं परंतु उनकी उपयोगिता की भी सीमा है और अंत में पापों से युद्ध तो हमें ही करना पड़ेगा, प्रयत्न तो हमारा ही होगा, हमारे ही कर्म हमारे काम आएँगे, दूसरों के कर्म हम मोल नहीं ले सकते।

३८—हर एक मनुष्य को अपनी आत्मा की आज्ञा माननी चाहिए। राजनैतिक अथवा सामाजिक विचारों से भी इसके विरुद्ध नहीं करना चाहिए। परंतु अपनी आत्मा के अनुसार काम करने में धर्म पर आघात नहीं पहुँचना चाहिए और न किसी दूसरे पुरुष को हानि, क्योंकि उसको भी अपनी आत्मा पर चलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समूह निर्भ्रांत होने का दावा नहीं कर सकता। यदि

करे भी तो उसका विरोध करना चाहिए, नहीं तो मनुष्यों की बुद्धि संकीर्ण होने लगेगी और वे गुलामी की अवस्था को प्राप्त होने लगेंगे जो कि इसलिये और भी हानिकारक है कि यह परिणाम अनजान में होगा।

३९—धर्म की दृष्टि में ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है। भक्ति ज्ञान का कर्म-मार्ग है।

यह अनुवाद बहुत संक्षेप में किया गया है। इसमें रानडे की भाषा का ओज और उनकी युक्तियों की प्रबलता का आनंद नहीं आ सकता। परंतु इससे उनके धार्मिक विचारों के मूल सिद्धांत मालूम हो जाँयगे। रानडे में गुरु अथवा आचार्य बनने की लालसा नहीं थी, इसलिये अपने सिद्धांतों को बतलाते हुए उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि ये मेरे सिद्धांत है। प्रत्येक विषय पर यही कहा है कि एक ईश्वर को माननेवालों का यह सिद्धांत है।

रानडे के धार्मिक उपदेश पूना और बंबई की प्रार्थना-समाज में विशेष कर मराठी भाषा में हुआ करते थे। उनमें से कुछ पुस्तकाकार छप गए हैं। उनके अँग्रेजी व्याख्यान कभी शीघ्र-लिपिप्रणाली द्वारा अथवा अन्य प्रकार से लिखकर सामयिक पत्रों में छप जाते थे। धार्मिक विषयों पर अँग्रेजी में उनके निम्नलिखित व्याख्यान और लेख छपे हैं—

१ Philosophy of Thiesm.

२ Hindu Protestantism.

३ राजा राममोहन राय।

४ A Theist's confession of faith.

धार्मिक सुधार संबंधी नवीन संस्थाओं में ब्रह्मसमाज सबसे प्राचीन समझा जाता है रानडे का यह मत था कि सुधारक लोगों का दल उन्नीसवीं शताब्दी में ही पहले पहल उत्पन्न नहीं हुआ। धर्म में जो बुराइयाँ पीछे से आती रहीं उनका विरोध प्राचीन काल से होता चला आया है। उपनिषद् कर्त्ताओं ने अनेक स्थानों पर यज्ञादि की निष्प्रयोजनता दिखलाई है। शाक्यमुनि बुद्ध ने अपने समकालीन धर्म की प्रथा का संशोधन कर संसार के बहुत बड़े भाग पर अपना प्रभाव डाला। मुसलमानों के समय में इस देश में अनेक प्रभावशाली साधु संत हुए जिन्होंने धर्म के बाहरी दिखलावे की खुल्लम खुल्ला निंदा की और संसार को उपदेश दिया कि बाहरी आडंबर छोड़कर अपने हृदय को पवित्र करो। रानडे ने अपने अनेक व्याख्यानों में दिखलाया है कि संसार में किसी देश के सुधारकों को इतनी प्राचीनता का गौरव नहीं हो सकता जितना इस देश के लोगों को है। नारद, प्रह्लाद, वासुदेव, बुद्धदेव इत्यादि ऋषियों ने जिस प्रकार अपने समय में नवीन जीवन का संचार किया था उसी प्रकार ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम इत्यादि ने मुसलमानों के राज्यकाल में किया। उन्ही उच्च आदर्शों से उत्तेजित होकर अँग्रेजी राज्य में राममोहन राय, दयानंद सरस्वती इत्यादि ने लोगों को धर्मपथ दिखलाया। प्राचीन काल के ऋषियों के

विचार संस्कृत ग्रंथों में मिलते हैं परंतु सोलहवीं शताब्दी और उसके पीछे के साधु संतों ने जो कार्य किया है वह जनसमूह की भाषा द्वारा। नाभाजी, उद्धव, प्रियादास और महीपति ने जिन संतों का विवरण लिखा है उनमें स्त्री और पुरुष दोनों थे।

जिस प्रकार महाराष्ट्रीय लोगों को अपने संतों का अभिमान है उसी प्रकार हिंदी भाषा भाषी लोगों का सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, गुरु नानक ऐसे महात्माओं से सिर ऊँचा होता है।

इन महात्माओं की निम्नलिखित विशेषताएँ रानडे ने बतलाई हैं।

(१) इनके वचन भाषा में हुआ करते थे। इनमें से कुछ संस्कृत द्वारा प्रचार करने के विरोधी थे, यद्यपि इन्होंने स्वयं संस्कृत का अध्ययन किया था। उस समय के पंडित इनका विरोध करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि पंडितों ने एकनाथ और तुकाराम के ग्रंथों को डुबवा दिया था। इन संतों द्वारा भाषा-साहित्य में अद्भुत उन्नति हुई। यद्यपि संस्कृत-पंडितों में भी भाषा के प्रेमी हैं, और इनकी संख्या बढ़ रही है तथापि उनमें अधिकांश अब तक भाषा-साहित्य की उन्नति की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। पंडितों और संतों में अवश्य झगड़ा रहा होगा, नहीं तो कबीर साहब इस प्रकार क्यों लिखते?

> संस्कृत हि पंडित कहै, बहुत करै अभिमान।
> भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ़ अजान॥
> संस्कीरत संसार में, पंडित करै बखान।

भाषा भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरवान ॥
संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर ।
भाषा सतगुर सहित है, सत मत गहरि गँभीर ॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय ।
एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥
पढ़ि पढ़ि तो पत्थर भया, लिखि लिखि भया जो ईंट ।
कबीरा अंतर प्रेम की, लगी न एकौ छींट ॥
पंडित और मसालची, दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को करैं चाँदना, आप अँधेरे माहिं ॥

परंतु इसपर गुसाईं तुलसीदास जी ने ठीक कहा है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए सांच ।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमांच* ॥

(२) इन संतों ने धर्म के आडंबरों को त्यागने की शिक्षा दी और उनके बदले धार्मिक जीवन बनाने का उपदेश किया। केवल तीर्थों में घूमना, बिना भोजन किए रहना, रातों जागना इत्यादि धार्मिक जीवन में बहुधा सहाय्य नहीं होते। धर्मदासजी का, जो कबीर के शिष्य थे, वचन है—

हरि ना मिलैं अन्न के छाडे। हरि ना मिलैं डगर ही माँडे।
हरि ना मिलै घर बार तियागे। हरि ना मिलैं निसु वासर जागे॥
दया धरम जहँ बसे सरीरा। तहाँ खोजि लै कहै कबीरा॥

---

* दुशाला।

गुरु नानक जी कहते हैं—

बरतु नेमु तीरथ भ्रमें, बहुतेरा बोलणी कूड ।
अंतरि तीरथु नानका, सोधन नाहीं मूड ॥

दादूदयाल जी ने इन सब बातों का निचोड़ कह दिया है—

कोटि अचारी एक विचारी, तऊ न सरभरि* होइ ।
आचारी सब जग भर्‌या, विचारी विरला कोइ ॥

स्मरण रहे की तीर्थ, व्रतादि आत्मोन्नति के लिये एक प्रकार के साधन बनाए गए हैं। इनके आडंबर को धर्म मान लेना ही संतगणों ने भूल बतलाया है।

(३) संतों ने जाति पाँति को धर्म का आवश्यक अंग नहीं माना है। रैदासजी मोची थे, सदनाजी कसाई थे, गरीबदास जाट थे, बुल्ला साहब कुनबी थे, धरनीदास कायस्थ थे, यारी साहब और दोनों दरिया साहब मुसलमान थे, कबीर साहब जुलाहे थे। महाराष्ट्र संतों में नाई, जुलाहे, महार जाति ने भी संत उत्पन्न किए थे।

यह आवश्यक नहीं है कि परमेश्वर का वही प्यारा हो जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ हो। भक्तमाल में तो अनेक ऐसी कथाएँ आती हैं कि एक ओर ब्राह्मण वेद और पुराणों द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, दूसरी ओर छोटी जाति में उत्पन्न एक सच्चे हृदय का सीधा सादा पुरुष भक्ति से

---

* बराबरी ।

गद्गद होकर प्रेमपूर्वक भगवान् का चिंतन करता है और कृपा-निधि दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥"

प्रसिद्ध है कि चित्तौर की रानी जब काशी आईं उन्होंने रैदास भक्त को जो चमार थे और विद्वान् पंडितों को अपने यहाँ बुलवाया। पंडितों ने खूब मंत्र पढ़े परंतु रैदास जी ने जब प्रेम और भक्ति भाव में आकर भजन गाना आरंभ किया, भगवान् की मूर्ति जो सिंहासन पर विराजमान थी, सिंहासन छोड़ कर रैदास की गोद में जा बैठी।

इस प्रकार की कथाएँ आजकल के सुधारक लोगों की बनाई हुई नहीं हैं। इनसे प्रमाण मिलता है कि हमारे देश में किस प्रकार पहले समय में भी जाति पाँति का विरोध होता था।

हम वासी वा देस के, जहँ जाति बरन कुल नाहिं।
सबद मिलावा होत है, देह मिलावा नाहिं॥

संतों की श्रेणी में स्त्रियों का भी उच्च पद था। मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई के वचन प्रेम और भक्ति से भरे हैं। वे इस बात का प्रमाण देते हैं कि ईश्वर की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों का दर्जा एक है।

जिन भक्तों का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, वे भी प्रेम पूर्वक उन संतों से व्यवहार करते थे जिनका जन्म छोटी जाति में हुआ था।

(४) भक्तजन दया का प्रचार और अहिंसा का उपदेश सर्वदा किया करते थे, अपने इस उद्देश्य में वे पूर्णतया कृतकार्य हुए। मांसादि भक्षण का, जो कभी कभी धर्म के नाम से होता था उन्होंने जोर से खंडन किया। उनके उद्योग से वैष्णवता देश में सर्वप्रिय हो गई। कबीर जी मुसलमान के घर में पाले गए थे, पर उन्होंने बड़े मनोहर और चुभते हुए शब्दों में मांसादि का प्रयोग मना किया है। सदना जी तो कसाई ही थे, फिर भी मांस नहीं खाते थे।

---

(८) समाज सुधार का उद्योग।

Isolation, submission to outward force or power more than to the voice of the inward conscience, pereeption of factitious difference between men and men due to heredity and birth, a passive aquiescence to secular well-being almost bordering upon fatalism. These have been the root ideas of our social system.

—Ranade.

भारत की अधोगति के अनेक कारणों में से एक कारण इस देश की वर्तमान सामाजिक, अवस्था है। इससे हमारी जातीय शक्ति का बिलकुल ह्रास हो गया है, हमारे लौकिक और पारमार्थिक आदर्श हमारे शास्त्रों और इतिहासों में मिलते हैं, हमारे वर्त्तमान जीवन में कम। ब्रह्मचर्य्य के स्थान पर बाल-

विवाह फैल गया; सीता और सावित्री के नाम का स्मरण करनेवाली हमारी देवियाँ शिक्षा से विहीन रक्खी जाने लगीं; ब्राह्मण का उच्च पद जो आध्यात्मिक और अलौकिक शक्तियों का बोधक था अब केवल नाम मात्र के लिये रह गया है; जहाँ आचरण की पवित्रता प्रथम श्रेणी का गुण समझा जाता था वहाँ मादक वस्तुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है और यज्ञोपवीत विवाहादि वैदिक संस्कारों पर भी रंडियों के नाच की प्रथा चल निकली है। इस सामाजिक दुर्दशा के कारण विदेशीय धर्म प्रचारक और अन्य लोगों को अन्य देशों में हमारी अवस्था नोन मिर्च लगा कर सुनाने का अवसर मिलता है जिसका प्रभाव हमारी राजनैतिक उन्नति पर पड़ता है। मिस्टर फिशर ने जो विलायत के किसी विश्वविद्यालय के वाईस चानसेलर हैं अपने एक व्याख्यान में कहा था कि भारत का स्थान अंग्रेजी साम्राज्य के उपनिवेशों के समान तब हो सकता है जब यहाँ के लोग नीच जातियों के साथ अच्छा बर्ताव करने लगें, जब बाल-विवाह बिलकुल उठा दिया जाय और जाति के बंधन कुछ ढीले कर दिए जाँय। मि० फिशर का यह विचार सत्य है या झूठ इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं परंतु इस उदाहरण से विलायती राजनीतिज्ञों की सम्मति इस देश को राजनैतिक अधिकार देने के संबंध में मालूम हो जाती है।

सामाजिक दुर्दशा समस्त जातीय दुर्दशा का कारण होती है। रानडे ने अपने जीवन का बहुमूल्य और अधिकांश समय

भारतीय सामाजिक अवस्था के सुधार में लगाया। वे अपनी तीस वर्ष की अवस्था में जब 'इंदु प्रकाश' के संपादक नियुक्त हुए थे तभी से समाज-संशोधन के पक्ष में आंदोलन करते थे। उन दिनों पं० विष्णु शास्त्री दक्षिण में एक अच्छे विद्वान थे। वे विधवाविवाह को शास्त्रानुकूल समझते थे। सं० १८६१ में उन्होंने विधवाविवाह सभा स्थापित की, जिसके सभापति जमखिंडी के सर्दार अप्पासाहेब नियुक्त किए गए। पं० विष्णु शास्त्री इस सभा के मंत्री थे, रानडे को इस विषय पर आंदोलन करने का भार सौंपा गया। १८६९ में एक विधवाविवाह भी किया गया, इस पर अनेक स्थानों के सर्दारों ने श्रीशंकराचार्य जी को इस विषय पर वादविवाद करने पर तैयार किया। पाँच शास्त्री सुधारक लोगों की ओर से और पाँच शंकराचार्य की ओर से चुने गए। शंकराचार्यजी स्वयं सभापति हुए। रानडे ने उस समय विष्णु शास्त्री की बड़ी सहायता की। पंचों में से सात ने विधवाविवाह का विरोध किया और तीन ने समर्थन किया। शास्त्री लोगों में झगड़ा होने के कारण कचहरी में मानहानि का दावा होने की नौबत आई। उस समय शास्त्रों के प्रमाणों को अंग्रेजी में संग्रह करने की आवश्यकता पड़ी। १८७० में रानडे ने Vedic authorities for widow marriage नामक पुस्तक लिखी। इस सभा द्वारा फिर अनेक स्थानों पर विधवाविवाह होने लगे। रानडे और अन्य सुधारक लोग बिरादरी से निकाले गए। उनमें से कुछ डर गए और

प्रायश्चित्त करके हट गए, परंतु रानडे ने विष्णु शास्त्री का बरा·
बर साथ दिय। अनेक बार उनको कष्ट पहुँचाया गया, परंतु
उन्होंने अंत तक प्रायश्चित्त नहीं किया।

. सं० १८८४ में रानडे ने पंडित शंकर पांडुरंग और सर
रामकृष्ण भांडारकर के साथ मिलकर कन्याओं के लिये पूना
हाई स्कूल खोला। इस पर भी बड़ा आंदोलन हुआ और इन
नवयुकों को चारों ओर से गालियाँ मिलने लगीं, यहाँ तक
कि हिंदू कन्याएँ बहुत कम आतीं और यहूदी और ईसाई लड़·
कियों की संख्या बढ़ने लगी। परंतु रानडे ने इसकी परवाह न
की। धीरे धीरे हिंदू कन्याओं की ही अधिकता हो गई, और
इतनी लड़कियाँ आने लगीं कि स्थानाभाव से बहुत सी निराश
हो कर लौटने लगीं।

समाज सुधार के इस प्रकार के उद्योगों का प्रभाव केवल
नगर विशेष अथवा प्रांत विशेष पर पड़ सकता था। पर
आवश्यकता थी कि समस्त देश इसको स्वीकार करे। १८८५ में
कांगरेस का जन्म हुआ। इसके द्वारा राजनैतिक विषयों पर
आंदोलन होने लगा। कांगरेस किसी स्थान विशेष की संस्था
नहीं है। इसके अधिवेशन समस्त देश के प्रत्येक भाग में होते
हैं। एक वर्ष एक प्रांत की राजधानी अथवा किसी मुख्य नगर
में, दूसरे वर्ष दूसरे प्रांत में। इस प्रकार कांगरेस के द्वारा
समस्त देश में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न होती है। रानडे
का विचार हुआ कि राजनैतिक कार्य्य के साथ साथ समाज

संशोधन संबंधी जाग्रति भी होनी चाहिए। यों तो कांगरेस द्वारा भी एक प्रकार का सामाजिक सुधार होता है। एक प्रांत के हिंदुओं का दूसरे प्रांत के हिंदुओं से मिलना; हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि अनेक जातियों का एक साथ बैठना एक प्रकार से सामाजिक संकीर्णता पर कुठार मारना है। पर कांगरेस में सामाजिक विषयों पर विचार नहीं हो सकता। उसमें सरकारी कर्मचारी शरीक भी नहीं हो सकते। इसलिये आवश्यक हुआ कि यदि सामाजिक विषयों पर आंदोलन किया जाय तो वह कांगरेस से पृथक हो। १८८५ में जब कांगरेस बंबई में हुई रानडे और दीवान बहादुर रघुनाथ राव ने समाज संशोधन की आवश्यकता पर व्याख्यान दिए थे। दूसरे वर्ष कांगरेस कलकत्ते में हुई, वहाँ इस विषय पर विचार नहीं हुआ, परंतु समाचारपत्रों में वादविवाद चल रहा था कि कांगरेस में सामाजिक विचार होने चाहिएँ या नहीं।

सं० १८८७ में जब कांगरेस का तीसरा अधिवेशन मद्रास में हुआ, तो यह निश्चय हुआ कि भारतीय सोशल कानफरेंस (सामाजिक समिति) स्थापित की जाय। इस कानफरेंस के जन्म-स्थान का गौरव मद्रास को प्राप्त हुआ। इसके प्रथम सभापति राजा तांजोर माधव राव के. सी. एस. आई. जो ट्रांवकोर, इंदौर और बड़ोदा में दीवान रह चुके थे, किए गए। कानफरेंस के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथ राव चुने गए। रानडे उपमंत्री नियुक्त हुए। कानफरेंस का अधिवेशन

कांगरेस मंडप ही में किया गया और उस समय से (पूना के अतिरिक्त) प्रत्येक प्रांत में वहीं होता आया है। यह कानफरेंस हर वर्ष जिस स्थान में कांगरेस होती है वहीं की जाती है।

. इस कानफरेंस के प्रथम तेरह अधिवेशनों में रानडे बराबर उपस्थित हो कर व्याख्यान देते रहे। चौदहवाँ अधिवेशन जब लाहोर में हुआ वे बीमार पड़े और पीछे मृत्यु को प्राप्त हुए। इस अधिवेशन के लिये बीमारी की अवस्था में उन्होंने अपना व्याख्यान तय्यार करके गोखले के द्वारा भेजवा दिया था। कहा जाता है कि उपस्थित होने की असमर्थता के कारण उनकी आँख में कई बार आंसू आगए।

कानफरेंस के आरंभ का कार्य्य कठिन था। चारों ओर के विरोध और जाति से निकाले जाने के डर के कारण शिक्षित सज्जन लोग भी इसके साथ सहानुभूति प्रकट करने से हिचकते थे। तिस पर भी रानडे की दृढ़ता, सहनशीलता और देशहितैषिता के कारण अनेक विद्वान् और प्रतिष्ठित लोग उनका साथ देते थे। कानफरेंस के सभापतियों की नामावली से प्रकट हो जाता है कि भारतीय अनेक संस्कृतज्ञ विद्वान्, अग्रगण्य राजनैतिक नेता और अन्य प्रतिष्ठा-प्राप्त सज्जन समाज संशोधन की आवश्यकता को स्वीकार करते थे। कानफरेंस के सभापति प्रायः उसी प्रांत के सज्जन चुने जाते हैं जहाँ उसका अधिवेशन होता है। कांगरेस में ऐसा नहीं होता।

कानफरेंस के इतिहास में एक घटना स्मरणीय है। १८९५ में जब कांगरेस पूना में हुई थी तब सोशल कानफरेंस का नवाँ अधिवेशन वहीं हुआ था। कानफरेंस के पाँच छ महीने पहले से इस बात का विरोध उठाया गया कि उसकी बैठक कांगरेस के मंडप में न हो। इस विरोध ने भीषण स्वरूप धारण किया। बंबई प्रांत के अनेक नगरों में विशेष कर पूना, सोलापुर, अहमदनगर, नासिक, बंबई, सतारा, नागपुर, धारवाड़ में इस विषय पर आंदोलन आरंभ हुआ। मामला यहाँ तक बढ़ा कि कांगरेस की बैठक होने में भी खटका पैदा हो गया। हर स्थान में दो दल हो गए। उस वर्ष कांगरेस के सभापति सर सुरेंद्र नाथ बैनरजी थे। दोनों दल वाले उनकी सहानुभूति के प्रार्थी हुए। बैनरजी के सुधार के पक्षपाती होते हुए भी रानडे ने कानफरेंस के अधिवेशन का स्थान बदल कर सब झगड़ा तै कर दिया। इस विरोध के नेताओं में लोकमान बाल गंगाधर तिलक भी थे, जो कानफरेंस के आदि काल में उसमें बराबर शरीक होते थे। विरोधियों ने तीन खबरें फैलाईं। एक यह कि कानफरेंस के मंत्री दीवान बहादुर रघुनाथ राव कानफरेंस को तमाशा समझते हैं और इसलिये उन्होंने मंत्री पद को त्याग दिया। यह समाचार दीवान रघुनाथ राव के नगर के पत्र में छपवाया गया, जिसमें सब लोग इस पर विश्वास कर लें। दूसरी खबर यह फैलाई गई कि कांगरेस की प्रांतिक सभाओं ने भी कानफरेंस के कांगरेस मंडप में करने के विरुद्ध लिखा

है। तीसरे यह कि सर सुरेंद्र नाथ बैनरजी ने भी इसका विरोध किया है।

रानडे ने कानफरेंस का स्थान बदलने के बाद एक व्याख्यान दिया जिसका विषय था "पूना में जोश का कारण"। इस व्याख्यान को सुनने के लिये हजारों लोग आए। सुधारक और विरोधी दोनों यह समझ कर उपस्थित हुए कि रानडे विरोध की सब कथा सुनाएँगे, विरोधियों की खबर लेंगे और अपना गीत गाएँगे। रानडे ने इनमें से एक बात भी न की। रानडे ने पहले दीवान रघुनाथ राव का पत्र पढ़ कर सुनाया, जिसमें उन्होंने अपने संबंध की खबर के बारे में लिखा था। उस पत्र का अनुवाद यह है।

"बात यह है कि एक सप्ताह के लगभग हुआ, मिस्टर जोशी मुझसे कुंभकोणम में मिलने आए। उन्होंने बहुत खुशी से कहा कि कांगरेसवालों ने ठीक किया जो सोशल कानफरेंस को अपना मंडप नहीं दिया। मुझे इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं उनको सुधारक समझता था। मैंने कहा मैं बड़ा प्रसन्न हूं कि मंडप नहीं दिया गया क्योंकि कांगरेसवाले विलायतवालों से जो कहा करते थे कि हम समाज-संशोधन संबंधी कार्य्य में सहायता किया करते हैं उसकी अब कलई खुल जायगी। अब अंगरेज लोग समझ जाँयगे कि कांगरेस सोशल कानफरेंस के साथ काम नहीं करना चाहती। मैंने अवश्य यह कहा कि कानफरेंस को कांगरेस का मंडप न मिलने पर मैं

प्रसन्न हूं। इस वर्ष कानफरेंस में जाने के संबंध में मैंने उनसे कहा था कि मैं अब बुड्ढा हो गया, वहां जाने की मुझमें अब शक्ति नहीं है, अब मेरे लिये उचित यही है कि मैं शांतिपूर्वक अपना समय बिताऊं और झगड़ों में न पड़ूँ। मुझे खेद है कि मेरा स्वास्थ्य मुझे जाने से रोकता है।"

इसके अनंतर प्रांतिक कांगरेस कमेटियों के पत्र पढ़े गए, जिन्होंने कांगरेस मंडप दिए जाने के संबंध में अपनी सम्मति दी थी। तब सर सुरेंद्र नाथ बैनरजी के पत्र का एक अंश पढ़ कर सुनाया गया जिसका अनुवाद यह है "हमारे (कांगरेस के) मंतव्यों से सामाजिक विषयों को दूर रखने का कारण यह है कि हम लोगों में मत-भेद न हो जाय। हमारे लिये यह आवश्यक बात है कि हम अपने अंदर दो दल न होने दें दूसरी ओर की प्रार्थना (कांगरेस मंडप में कानफरेंस न हो) बिलकुल युक्तिविरुद्ध है, परंतु हम लोगों को कभी बड़ी बड़ी बुराइयों को रोकने के लिये युक्ति विरुद्ध बातें भी मान लेनी पड़ती हैं।"

इसके अनंतर रानडे ने गंभीरतापूर्वक कुल झगड़े के कारण पर विचार किया। कुछ लोग कहते थे कि यह सब झगड़ा व्यक्तिगत है। इस संबंध में रानडे ने कहा "इस झगड़े की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाना बड़ा सहल है। व्यक्तिगत झगड़े अवश्य होते हैं। दो दलों में मत-भेद और झगड़े सृष्टि के अंत तक रहेंगे, जिस प्रकार वे सृष्टि के आदि से चले आ रहे

है.........ये झगड़े केवल पूना ही में नहीं हैं। मुझे देश के प्रायः सब बड़े नगरों का अनुभव है, क्योंकि मैं वहां दो तीन बार गया हूँ और वहाँ के झगड़ों के समझने में मैंने कुछ समय दिया है। हम लोगों का यह स्वभाव है कि जहाँ दस बारह आदमी एक साथ काम करते हैं वहाँ आधे एक दूसरे को पागल या दुष्ट कहने लगते हैं। हम में एक प्रकार से यह बान पड़ गई है कि हम एक दूसरे के विरुद्ध ही रहते हैं। लोग समझने लगते हैं कि विरोधियों में कोई अच्छा आदमी ही नहीं है"। आगे चल कर रानडे ने प्रत्येक प्रांत की विशेषता पर विचार किया और बतलाया कि बंगाल में ब्रह्म समाजियों ने अपने को हिंदुओं से अलग कर लिया है। समाज संशोधन की चर्चा केवल ब्रह्म समाजियों में है और वे अलग हैं। पंजाब १७ वीं और १९ वीं शताब्दी में सिक्खों के अभ्युदय के कारण पहले ही से तय्यार है। संयुक्त प्रांत में कायस्थ, खत्री भार्गव आदि जातियों में समाज संशोधन की चर्चा है। रानडे ने अपने इस व्याख्यान में समाज संशोधन के अनेक उपाय बतलाए हैं। समस्त हिंदू दल से अलग होकर काम करना एक उपाय है, बिरादरियों के द्वारा दूसरा उपाय है। आचार्यों से व्यवस्था लेकर सुधार करना तीसरा उपाय है। लोगों को बतलाना कि सुधार युक्तियुक्त है, उनकी मर्यादा और बुद्धि पर अपील करके उनसे विशेष विशेष सुधार के संबंध में प्रतिज्ञा कराना यह चौथा उपाय है। कानून की सहायता से सुधार का प्रचार

करना यह पाँचवाँ उपाय है। कहीं एक उपाय काम आता है कहीं दूसरा। इसके अनंतर रानडे ने बतलाया "इस प्रांत (बंबई) के सुधार की संस्थाओं में विशेषता यह है कि हम किसी एक उपाय का अवलंबन नहीं करते। हम चाहते हैं कि थोड़ा बहुत सब पर चलें, प्राचीन काल से नाता भी न तोड़ें और बिरादरी से अलग भी न हों। बंगाल की नाईं धर्म के आश्रय पर हम अलग होकर नहीं रहना चाहते। हमारी भिन्न भिन्न 'समाजें' हैं। पर हमारी प्रकृति के यह विरुद्ध है कि हम सब दूसरे दल में जा मिलें। हम पुरानी संस्थाओं से अपना संबंध नहीं छोड़ना चाहते। कुछ लोग इसको कमजोरी समझते हैं। कुछ लोग इसको अच्छा समझते हैं। इस प्रांत में सुधार का काम किसी विशेष ढंग से नहीं किया गया, परंतु हम सब ढंगों पर चलना चाहते हैं। यदि हम किसी एक उपाय का अवलंबन कर लें तो सब झगड़े शांत हो जाँय। यदि हम जन-समूह को छोड़ दें कि वे जो चाहें करें और हम अपना दल बनाकर अलग खड़े होने के लिये तय्यार हो जाँय तो हम को शांति मिले, क्योंकि हमारे मित्र जो सुधार के विरुद्ध हैं चाहते हैं कि हम यही करें। हम को बिरादरियों द्वारा सुधार करने में भी विश्वास नहीं। न हम इस बात की प्रतिज्ञा करना चाहते हैं कि जो युक्ति और बुद्धि के अनुकूल है उस पर चलें। अन्य प्रांतों के समाज संशोधन के कार्य में और हमारे कार्य में इस प्रकार के भेद हैं।"

उन्हीं दिनों रानडे ने दूसरा व्याख्यान "समाज संशोधन के इतिहास" पर दिया। उसके अंत में इस झगड़े का जिक्र इस प्रकार किया—"सुधारक और उनके विरोधियों में दक्खिन के जिलों में जो झगड़ा हुआ वह इस अंश में विशेष कर लाभदायक है कि उसके कारण सर्वसाधारण का ध्यान कानफरेंस के उद्देश्यों की ओर गया। उन स्थानों में जहाँ मराठी भाषा बोली जाती है, बरार और मध्यप्रदेश में दोनों दलों में साल भर घोर और बलपूर्वक युद्ध हुआ। मैंने अपने पहले व्याख्यान में बतलाया है कि इस युद्ध का किसी दूसरे प्रांत में होना असंभव था, क्योंकि इसका होना सिद्धांतों के कारण था, व्यक्तिगत झगड़ों के कारण नहीं। इस समय हमारा कर्तव्य है कि हम विचारें कि सुधारक लोगों का उनके प्रति, जो सुधार के विरुद्ध हैं, क्या बर्ताव होना चाहिए। हमारे पास बहु संख्या का बल नहीं है, परंतु अपने विश्वास पर दृढ़ता, अपने काम की धुन आत्म-समर्पण के लिये तत्परता आदि गुण हमारे अच्छे कार्य कर्त्ता लोगों में आ सकते हैं। यद्यपि ये कार्यकर्त्ता संख्या में थोड़े हैं परंतु अंत में वे विरोध को दूर करने में कृतकार्य होंगे। सब से पहले हमें यह सीखना है कि हम सहन कर सकें और क्षमा कर सकें। लोग हमारी हँसी उड़ाएँगे, मानहानि करेंगे, कभी कभी हमारे शरीर को भी कष्ट पहुँचाएँगे—हम इन सब को सहन करें। गाली के जवाब में गाली देने से हम दूर रहें। नाजरेथ के महात्मा (ईसू) के शब्दों में, हम को सूली पर

चढ़ना है इस लिये नहीं कि कष्ट उठाना रुचिकर है वरंच इस लिये कि कष्ट और पीड़ा उस सिद्धांत के सामने जिसके लिये वे सहन की जाती हैं कुछ भी नहीं हैं। व्यक्तियों में मत-भेद हो तो हुआ करे। ऐसे मत-भेद तो मनुष्य स्वभाव की कमज़ोरी और मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण होते ही रहेंगे। यथार्थ में तो एक मनुष्य का मन दूसरे मनुष्यों के मन से मिलता है, हम सब में ईश्वरीय तत्व की उपस्थिति इस मेल का मूल कारण है, और यही भाव है जो सब लोगों को प्रेम और सहानुभूति के बंधन से बाँधता है। आकाश के जल में उसी पृथ्वी का रंग आ जाता है जिस पर वह बहता है, परंतु ये रंग भिन्न भिन्न प्रकार के जल नहीं बनाते। थोड़ी देर के लिये उनमें रंग का भेद मालूम होता है, पर अंत में वे मिलकर शुद्ध स्रोत के द्वारा महासागर में लीन हो जाते हैं, उनके पीछे मिट्टी कीचड़ और बालू रह जाता है। यदि इस विश्वास से हम कार्य करें तो सुधार का विरोध, जिससे हमारा मन कभी कभी खिन्न हो जाता है, निरंतर उद्योग का साधन बन जाय। मेरी इच्छा है कि आप सब लोग गत मासों की घटनाओं को इसी भाव से देखें और जो मैंने इस स्थान से कहा है उससे यदि इस प्रकार के भाव उदय हों तो मुझे पूरी आशा है कि आप लोग इस कानफरेंस में व्यर्थ नहीं आए"।

पूना के झगड़े के बाद कांगरेस मंडप में कानफरेंस करने का विरोध कहीं नहीं हुआ। काशी ऐसे स्थान में भी कानफरेंस

बड़े जोर के साथ हुई। कुछ लोगों का कथन है कि रानडे ने पूना में विरोधियों के आंदोलन से दब कर स्थान जो बदल दिया उससे उनका सिर ऊँचा हो गया और १२ वर्ष के बाद सूरत की कांगरेस का झगड़ा इसी कारण हुआ। परंतु यह कथन निर्मूल है। यदि रानडे उस समय स्थान न बदल देते तो जो अवस्था पीछे सूरत में हुई उससे भी बुरी अवस्था पूना ही की कांगरेस में हो गई होती और इस कलंक का ठिकरा सोशल कानफरेंस पर फूटता।

सोशल कानफरेंस समस्त देश की संस्था है। कहीं कहीं प्रांतिक सभाएँ और कांनफरेंसें भी समाज संशोधन का उद्योग कर रही हैं। राजनैतिक सभाओं के साथ साथ होने से लोगों का ध्यान बँटा रहता है इस लिये बंबई प्रांतवाले सोशल कानफरेंस का एक विशेष अधिवेशन करते हैं जिसके साथ कोई राजनैतिक सभा नहीं होती।

अब कहीं कहीं जिलों और नगरों में भी समाज संशोधन संबंधी कानफरेंसें होने लगी हैं। देश में अनेक संस्थाएँ समाज की विशेष विशेष बुरी रस्मों को दूर करने के लिये स्थापित हैं। कोई स्त्रियों की अवस्था के सुधार का प्रयत्न करती हैं, कोई अछूत जातियों की दुर्गति के सुधार का उद्योग करती हैं, कोई विवाह संस्कारों की कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं। इस प्रकार समाज संशोधन के विचार सारे देश में फैल रहे हैं। अनेक जातियों में जैसे क्षत्रिय, वैश्य, काय-

सवाल प्रभृति सभाओं द्वारा सामाजिक उन्नति की पुकार सुनाई दे रही है, बाल-विवाह-निषेध, स्त्री-शिक्षा-प्रचार, विवाहादि में अपव्ययों को रोकना—इन विषयों का अब बहुत कम विरोध होता है। एक समय था जब स्त्रियों को पढ़ाना लोग बुरा समझते थे, जब बुड्ढों का विवाह छोटी कन्याओं के साथ होने पर किसी के कान नहीं खड़े होते थे, पर बाल-विधवा के विवाह का नाम सुन कर लोग कान में उँगली डाल लेते थे, जब समुद्र पार करके विदेश से शिक्षा अथवा अनुभव प्राप्त करके आना महा पातक समझा जाता था, जब सह-भोज से ग्लानि होती थी, जब बिरादरी की सीमा से बाहर प्रेम और सहानुभूति का नाम नहीं था। इन सब में अब परिवर्तन हो रहा है।

सोशल कानफरेंस ने अबतक जो प्रस्ताव पास किए हैं उन विषयों पर यहाँ थोड़ा सा उल्लेख कर देना उचित है।

स्त्री-शिक्षा।

इस विषय पर सोशल कानफरेंस के प्रत्येक अधिवेशन में प्रस्ताव उपस्थित होता आया है। आरंभ में लोग इसका भी विरोध करते थे। स्त्रियों को पढ़ने का अधिकार नहीं है, पढ़ लिख कर वे करेंगी क्या, पढ़ी लिखी स्त्रियों का घर गृहस्थी के काम में मन नहीं लगेगा, इत्यादि बातें स्त्री शिक्षा के विरुद्ध कही जाती थीं। सोशल कानफरेंस और अन्य संस्थाओं के निरंतर आंदोलन, गवर्नमेंट, पादरियों और अन्य समाजों के उद्योग से कन्या-पाठशालाओं के खुलने के कारण अब इस विषय

पर विरोध बहुत कम होता जाता है। आरंभ में कन्यापाठ-शालाओं का खोलना भी कठिन था। लोग धन नहीं देते थे। बदमाश लोग कन्याओं और अध्यापिकाओं के रास्ता चलने में बाधा डालते थे, गृहस्थ लोग अपनी कन्याओं को पढ़ने के लिये नहीं भेजते थे। स्वयं स्त्रियाँ अपनी शिक्षा को अनावश्यक समझती थीं। ये सब कठिनाइयाँ अब बहुत कम होती जाती हैं। अब तो इस विषय के प्रस्ताव सोशल कानफरेंस में स्वयं महिलाएँ उपस्थित करती हैं। देश में अनेक कन्या-पाठशालाओं का प्रबंध भी महिलाएँ करती हैं। परंतु कठिनाइयों का अभी अंत नहीं है। स्त्री-शिक्षा का विरोध तो कम हो रहा है, परंतु पाठ-शालाओं के लिये अध्यापिकाएँ नहीं मिलतीं, कन्याएँ बाल विवाह के कारण स्कूल से जल्दी उठा ली जाती हैं, स्त्रियों के उपयोगी पुस्तकें कम मिलती हैं। अब मत-भेद इन विषयों पर रह गया है—(१) स्त्रियों को किस भाषा की और किन किन विषयों की शिक्षा दी जाय, (२) जिन परीक्षाओं को बालक पास करते हैं क्या कन्याएँ भी उन्हीं को पास करें अथवा उनके लिये दूसरी परीक्षाएँ स्थापित की जाँय, (३) जिन पाठशालाओं में प्रारंभिक शिक्षा मिलती है क्या उनमें छोटी अवस्था तक बालक और बालिकाओं को साथ पढ़ाने में कोई हानि है ? (४) जिस कुटुंब की स्त्रियाँ बाहर नहीं आ सकतीं क्या उनको घर घर जाकर अध्यापिकाएँ नहीं पढ़ा सकतीं ? (५) स्त्रियों को केवल प्रारंभिक शिक्षा दी जाय अथवा उच्च शिक्षा भी दी जाय।

जहाँ पहले स्त्री-शिक्षा मात्र का विरोध था वहाँ अब इस प्रकार के समयोचित प्रश्न पूछे जाते हैं। स्त्रियों को शिक्षित बनाने पर मतभेद अब कम है। अब मतभेद है इस बात पर कि उनको अंग्रेजी पढ़ाई जाय या नहीं। कुछ लोग अंग्रेजी पढ़ाने के बिलकुल विरुद्ध हैं। कुछ लोगों की सम्मति में संस्कृत पढ़ाना भी उचित नहीं है। वे चाहते हैं कि उनको केवल थोड़ा बहुत भाषा का ज्ञान दिला देना पर्याप्त है। यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि प्राचीन आर्य ललनाएं शिक्षा पाती थीं। शिक्षा का अभाव अंग्रेजी राज्य के थोड़ी ही शताब्दी पहले से शुरू हुआ था, वर्तमान जागृति अंग्रेजी राज्य के आरंभ में हुई। इस यश के भागी बंगाल में ब्रह्मसमाज, बंबई में दादा भाई नौरोजी आदि महानुभाव, पंजाब और संयुक्त प्रांत में आर्य्य समाज और समस्त देश में गवर्नमेंट और ईसाई पादरी हैं। भारतवासी महानुभावों में पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर, लाला देवराज और प्रोफेसर कर्वे का नाम स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिये भारतीय इतिहास में स्मरणीय रहेगा। लाला देवराज का स्थापित जालंधर कन्या महाविद्यालय उत्तरीय भारत में शिक्षा का स्तंभ है। पूना का महाविद्यालय महात्मा कर्वे की संगठन-शक्ति और आत्मसमर्पण द्वारा भारत में प्रथम महिला-विश्व-विद्यालय के गौरव को प्राप्त हुआ।

स्त्री-शिक्षा प्रचारकों के शुकार्य को अब लोग धीरे धीरे मानते जाते हैं। १८८४ में रानडे, भांडारकर और शंकर पांडुरंग

ने मिलकर पूना में जो कन्याओं के लिये हाई स्कूल खोला था उस पर लोग उन्हें 'पागल' कहते थे और उनको हिंदू स्त्रियों के 'स्त्रीत्व' का नाशक समझते थे। इस स्कूल के खुलने के उत्सव पर रानडे के निम्नलिखित वाक्य बड़े महत्व के हैं।

"बहुत से लोग कहते हैं कि जब कन्याएँ, उन प्रारंभिक पाठशालाओं से जो उनके लिये स्थापित हुई हैं उतने अंश तक भी फायदा नहीं उठातीं जितना संभव और उचित है, तब उनके लिये उच्च श्रेणी के स्कूल खोलना व्यर्थ है; मेरी सम्मति में जिनके ये विचार हैं उन्होंने हमारे बालकों के स्कूलों के गत ५० वर्ष के इतिहास से जो शिक्षा मिलती है उसपर उचित रूप से मनन नहीं किया है। जब सरकार ने शिक्षा-प्रचार आरंभ किया था, प्रथम २५ वर्ष तक बालकों के लिये केवल प्रारंभिक पाठशालाएँ खोली गई थीं। इसका परिणाम चिरस्थाई नहीं हुआ। जो भूमि कई शताब्दियों की अकर्मण्यता और अविद्या से सूख गई थी और कड़ी हो गई थी उस पर प्रारंभिक शिक्षा के बीज बोकर हरी भरी और विस्तृत खेती की आशा दुराशा मात्र थी। प्रारंभिक शिक्षा की आवश्यकता है और यह जितनी हो कम है, परंतु अकेले छोड़ देने पर यह जड़ नहीं पकड़ेगी और थोड़ी ही वृद्धि होने पर सूख जायगी। इसके साथ साथ इसके सहायक रूप में उच्च शिक्षा के प्रचार पर खूब धन और समय लगाने की आवश्यकता है। उच्च शिक्षा ही ओज और संबर्द्धता प्रदान करती है, नवजीवन का संचार करती है,

विचारों की नवीन सृष्टि खोल देती है और जातीय उद्धार के उद्योगों में जान और शक्ति डाल देती है।"

सरकार ने कई स्थानों पर कन्या पाठशालाएँ खोली हैं। लोगों की खोली हुई पाठशालाओं की भी सरकार धन से सहायता करती है। इनके निरीक्षणादि के लिये मेम लोग नियुक्त हैं। कहीं कहीं हिंदुस्तानी शिक्षित महिलाएँ भी इस कार्य को करती हैं। अध्यापिकाओं को शिक्षा प्रणाली सिखलाने के लिये स्कूल हैं। परंतु सरकार ने अभी तक पूर्ण हृदय से इस काम को अपने हाथ में नहीं लिया है। सरकारी कर्मचारियों का यह मत है कि अभी लोग इसके लिये तय्यार नहीं हैं। यह बात बिलकुल भ्रमात्मक है। गदर के पहले सन् १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने, जो उस समय भारत के सचिव थे, शिक्षा संबंधी अपने आज्ञा-पत्र में इस बात पर हर्ष प्रगट किया था कि भारतवासियों में स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिये उद्योग के चिह्न चारों ओर दिखलाई दे रहे हैं। उस समय की अपेक्षा अब बहुत जाग्रति हुई है। सं० १८८८ में मिस मेरी कारपेंटर स्त्री-शिक्षा प्रचार के निमित्त विलायत से भारतवर्ष में आई थीं। इस कार्य्य को वे अपने जीवन का आदर्श समझती थीं। यहां की अवस्था जानने के लिये सरकार ने उनको हर प्रकार से सहायता दी थी। अनेक नगरों को देखने के बाद उन्होंने सरकार को अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि हिंदू रमणियों को इंगलैंड देश की स्त्रियों के बराबर और कई अंशों में उनसे भी बढ़

कर होने के लिये केवल सुशिक्षा की आवश्यकता है। उन्होंने अध्यापिकाओं की शिक्षा के लिये पाठशाला खोलने पर आग्रह किया। इसी प्रकार सरकार ने समय समय पर स्त्री-शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है। पर जिस इंगलैंड देश की प्रायः प्रत्येक महिला शिक्षित है, जो देश स्वयं शिक्षा और सभ्यता में संसार के अन्य देशों में अग्रगण्य होने का अभिमान रखता है, उस देश के राज्य में भारत की ललनाओं को जितनी उन्नति करनी चाहिए उससे अब तक बहुत कम हुई है।

अक्तूबर १६१५ में विलायत के कुछ हिंदुस्तानी नेताओं और भारत के कुछ अंग्रेज हितैषियों ने इस विषय को भारत सचिव के सम्मुख उपस्थित किया था। इस कार्य में सर कृष्ण गोविंद गुप्त, सर मंचूर जी भावनगरी, श्रीमती सेन, मिस्टर यूसुफ अली, सर विलियम वेडरबर्न, सर जान जार्डीन आदि सम्मिलित हुए थे। इस अवसर पर महिला-रत्न मिसेज फासेट ने भारत की स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार पर सरकार के कर्तव्यों को बतलाया था। इसके अनंतर भारतीय गवनमेंट ने २२ फरवरी सन् १६१६ को एक सरक्यूलर जारी किया जिससे आशा प्रगट होती थी कि संभवतः अब सरकार इस ओर अधिक ध्यान दे। इस सरक्यूलर के आरंभ ही में सरकार ने मुक्तकंठ से स्वीकार भी किया था कि स्त्री-शिक्षा में यहां बहुत कम उन्नति हुई है। परंतु इसका कुछ फल न निकला।

स्त्री-शिक्षा सोशल कानफरेंस के विषयों में बड़े महत्व का

विषय है। देश की उन्नति के साधन में स्त्रियों का योग देना आवश्यक है। बालकों की शिक्षा में माताओं का प्रभाव अकथनीय होता है। इसलिये राजा और प्रजा दोनों का धर्म है कि इस ओर अधिक ध्यान दें। हर्ष का विषय है कि स्त्रियों के उपकार के लिये देश में पत्र और पत्रिकाएँ निकलने लग गई हैं जिनमें से कईयों का संपादन स्वयं स्त्रियां करती हैं।

मुसलमान भी अब स्त्री-शिक्षा में उन्नति कर रहे हैं, अनेक स्थानों में उनके स्कूल खुले हैं। इस विषय पर उनमें जाग्रति पैदा करने का यश बेगम साहिबा भूपाल को प्राप्त है।

बाल-विवाह-निषेध।

भारत की कुरीतियों में बाल-विवाह सबसे अधिक हानिकारक है। इसने देश के युवा और युवतियों के बल और बुद्धि को रोक दिया, इसने प्राचीन शास्त्रों के ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श को मिटा दिया। इस समय हमारे देश में पाँच वर्ष से भी नीचे की विवाहिता कन्याएँ मिलती हैं।

सोशल कानफरेंस में इस विषय पर पूरा आंदोलन होता चला आया है, परंतु भिन्न भिन्न अधिवेशनों के प्रस्तावों में बालकों और कन्याओं के विवाह की आयु के संबंध में भेद है—

लड़के की अवस्था		लड़की की अवस्था	
किसी में	२० वर्ष	किसी में	१६ वर्ष
किसी में	१८ से २१ वर्ष	किसी में	१२ से १४ वर्ष

१६१० में प्रयाग के २४ वें अधिवेशन में प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि बालकों के विवाह की अवस्था २० और बालिकाओं की १६ वर्ष रक्खी जाय। इसका घोर विरोध किया गया और अंत में बहु सम्मति से यह निश्चय हुआ कि कन्याओं का विवाह १६ वर्ष से और बालकों का २५ वर्ष से पूर्व न होना चाहिए। संभव है कि भिन्न भिन्न स्थानों के प्रस्तावों में भेद प्रांत-विशेष की स्थानिक अवस्था के विभेद के कारण हों। परंतु आदर्श वही होना चाहिए जो प्रयाग के अधिवेशन में निश्चय किया गया था और जो आदर्श हो वही प्रस्तावरूप में आना चाहिए।

बाल-विवाह के विषय पर भी देश में जाग्रति के लक्षण दिखलाई दे रहे हैं। कुछ स्कूलों और कालेजों में विवाहित बालक या तो भरती नहीं किए जाते या उनसे फीस अधिक ली जाती है। गुरुकुल, ऋषिकुल आदि संस्थाओं में केवल ब्रह्मचारी ही शिक्षा पाते हैं। इस संबंध में काशी का हिंदू कालेज और कांगड़ी का गुरुकुल अन्य संस्थाओं के लिये पहले पहल पथ-प्रदर्शक हुआ। इन पाठशालाओं में जिस प्रकार बालकों के लिये नियम बनाया जा रहा है उसी प्रकार कन्या पाठशालाओं में ऐसा ही नियम बनाने का भी समय आजायगा। बाल-विवाह के कारण कन्याएँ स्कूल से जल्दी हटा ली जाती हैं। कन्यापाठशालाओं की संख्या भी अभी कम है। इसका परिणाम यह है कि बालकों में तो बाल-विवाह कुछ कम हो

रहा है, परंतु बालिकाओं के विवाह की अवस्था में भेद कम पड़ा है।

बालविवाह को बड़ोदा और मैसूर सरकार ने कानून के द्वारा रोकने का प्रयत्न किया है और इसमें कामयाबी भी हुई है।

सं० १८७१ में केशवचंद्र सेन ने बंगाल के चुने हुए डाक्टरों की सम्मति इस विषय पर ली थी कि बंगाल की कन्याओं का विवाह कम से कम किस अवस्था में होता है और वे रजस्वला कब होती हैं। जो सम्मतियाँ आई थीं उन से बालविवाह की दुर्दशा का पता लगता है। ये सब सम्मतियाँ महाशय चिंतामणि की 'इंडियन सोशल रिफार्म' नामक पुस्तक में छपी हैं।

विवाह किस आयु में होना चाहिए, इसपर रानडे ने Age of Hindu Marriage नाम का लेख सं० १८८७ में लिखा था जो Ranade's Essays on Religious and Social Reform नामक पुस्तक में छपा है। इसमें शास्त्रों के प्रमाणों से निश्चय किया गया है कि बालकों के विवाह की अवस्था २५ और बालिकाओं की १६ वर्ष होनी चाहिए।

१८६० में जब सोशल कानफरेंस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था, विलायत की पार्लामेंट के प्रसिद्ध मेंबर और मादक वस्तुओं के निषेध पर आंदोलन करनेवालों के नेता मिस्टर केन साहब उपस्थित थे। बालविवाह के प्रस्ताव के पास हो जाने के अनंतर उन्होंने एक छोटे से व्याख्यान में कहा था कि

विलायत में इस विषय पर श्रीमती राजराजेश्वरी विक्टोरिया और अन्य पुरुष बहुत अनुराग रखते हैं। उन्होंने बतलाया कि अंग्रेज महिलाएं विशेषकर इस विषय पर आंदोलन कर रही हैं। उन्होंने कहा कि पार्लामेंट के खुलने के बाद इस विषय पर विचार किया जायगा और यदि कोई मेंबर सहायता न करेगा तो उसकी पत्नी उसको बाध्य करेगी कि वह इस ओर ध्यान दे। विलायत में स्त्रियों का बड़ा जोर है।

सन् १८८६ में जब सोशल कानफरेंस बंबई में हुई थी, बालविवाह के विरुद्ध समस्त देश में विलक्षण आंदोलन मचा हुआ था। बहरामजी मालाबारी जो उस समय के प्रसिद्ध पत्र-संपादक थे इसके विरुद्ध भारतवर्ष और इंगलैंड के प्रतिष्ठित लोगों को तय्यार करने के लिये कटिबद्ध हुए थे। उनके और अन्य लोगों के उद्योग से विलायत में एक सभा स्थापित हुई थी जिसमें पार्लामेंट के कई मेंबर शरीक थे। भारत की अल्पवयस्क कन्याओं का विवाह, उनके पति से उनका प्रकृति-विरुद्ध समागम, बाल्यावस्था ही में उनका माता बन जाना, रोगी पुत्रों का उत्पन्न होना और मृत्यु को प्राप्त होना आदि कुरीतियों के चित्र ने जो मालाबरी ने अपनी अद्भुत लेखनी से खींचा था विलायत की रमणियों का ध्यान इस ओर खींच लिया था। सोशल कानफरेंस ने इस विषय पर अगस्त १८९० में तीसरे अधिवेशन के प्रस्ताव के आधार पर भारतीय गवर्मेंट की सेवा में आवेदन-पत्र भेजा था, जिस पर सभापति काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग,

मंत्री रघुनाथ राव और अन्य ६० सभासदों के हस्ताक्षर थे। इस आवेदनपत्र और मालाबारी के आंदोलन का उद्देश्य यह था कि १८८२ के जाब्ता फौजदारी के कानून में संभोग सम्मति की आयु, जो १० वर्ष की थी, वह १२ वर्ष कर दी जाय।

जनवरी १८९१ में कानून के इस प्रकार परिवर्तन करने का प्रस्ताव बड़े लाट की कौंसिल में सर एँड्रयू स्कोबल ने पेश किया। माननीय सर रमेशचंद्र मित्र ने, जो पहले कलकत्ता हाई कोर्ट के जज रह चुके थे, इसका बड़ा विरोध किया। समस्त देश में आंदोलन मच गया। शास्त्रों की छान बीन होने लगी। इसके विरुद्ध और पक्ष में सभाएँ होने लगीं। बंगालवाले इसका घोर विरोध करने लगे। २४ मार्च १८९१ को यह कानून पास हो गया। उस समय लार्ड लैंसडाउन बड़े लाट थे. उन्होंने बड़ी गंभीर और ओजस्विनी वक्तृता दी। लाट साहब ने स्वीकार किया कि कानून भी सुधार का प्रबल साधन है।

रानडे ने इस आंदोलन में पूरा हिस्सा लिया। एक दो बार मेल कराने की इच्छा से सुधारक लोगों को उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ दबने की सलाह दी, परंतु काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग आदि सुधारकों ने अपनी दृढ़ता को न छोड़ा। बंगाल के अतिरिक्त प्रायः सब प्रांतों के नेता लोग इस कानून के पक्ष में थे। बंगाल में भी बहुत से लोगों ने इसका समर्थन किया था।

समुद्र-यात्रा ।

हिंदू जाति उन लोगों को बिरादरी से निकाल देती है जो समुद्र पार करके दूसरे देशों में यात्रा कर आते हैं। हम लोग अंग्रेजी राज्य के अधीन हैं। इस राज्य की बागडोर विलायत-वालों के हाथ में है। विलायत समुद्र पार है, वहां के लोग यहां आकर राज्य करें, व्यापार करें, अपने धर्म का प्रचार करें, परंतु यदि हम वहां विद्या सीखने, राजनैतिक कार्य करने अथवा व्यापार करने जाँय तो जाति से बाहर हो जाँय ! अन्य देशों में कोलंबस, नैनसन, लिविंगस्टन आदि लोग उत्पन्न होते हैं, नवीन स्थानों का अनुसंधान करते हैं और अपने देश-वासियों से सम्मानित होते हैं। हमारे देश में ऐसी आत्माएँ उपस्थित अवश्य हैं, परंतु अवसर न मिलने के कारण वे दबी पड़ी रहती हैं। परंतु क्या भारतवर्ष में पहले समुद्र-यात्रा नहीं होती थी ? इस प्रश्न का उत्तर बड़े बड़े विद्वान शास्त्रज्ञ और पुरातत्त्व-वेत्ता यही देते हैं कि प्राचीन आर्य समस्त सृष्टि में यात्रा करते थे। उन्होंने अनेक नवीन स्थानों को बसाया था, वे अन्य स्थानों में अपने धर्म का प्रचार करते थे, उन्हें जहाज बनाना आता था, वे अन्य जातियों से व्यापार करते थे। वर्त्तमान काल के बंधनों के रहते भी अनेक भारतवासियों ने विदेश जाकर, धर्म-प्रचार, विद्याध्ययन, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के लिये प्रसिद्धि प्राप्त की है।

सोशल कानफरेंस में इस विषय पर सदा विचार होता आया है।

१८९० के अधिवेशन में पार्लमेंट के मेंबर मिस्टर स्वान और मिसेज़ स्वान उपस्थित थीं। मिसेज़ स्वान ने समुद्रयात्रा के प्रस्ताव पर व्याख्यान देते हुए कहा था कि इंगलैंड देश की राज्य प्रणाली में प्रजा का बड़ा जोर है, परंतु वहां भारत की फर्याद सुनानेवाला कोई नहीं है। उनके कथन का तात्पर्य यह था कि राजनैतिक उन्नति के लिये भी आवश्यक है कि हमारे प्रतिनिधि विलायत जाँय। मिसेज स्वान के कथन की सत्यता गोखले ने अपने जीवन से सिद्ध कर दी।

१८९२ की प्रयाग की छठी कानफरेंस की रिपोर्ट में समुद्र-यात्रा विषय पर अनेक बातें बड़े महत्व की छपी हैं। इस विषय पर स्वयं रानडे ने प्रस्ताव उपस्थित किया था जिसमें उन्होंने भिन्न भिन्न प्रांतों में समुद्र-यात्रा संबंधी आंदोलन का वर्णन किया था। उन्होंने यह बतलाया कि पेशवाओं के समय में दो ब्राह्मण विलायत भेजे गए थे और वहां से लौट कर वे बिरादरी में ले लिए गए थे। इसी प्रकार सातारा के राजा की ओर से एक आदमी भेजा गया था वह भी जाति से नहीं निकाला गया।

रानडे के बाद मैसूर राज्य के प्रतिनिधि पंडित कस्तूर रंगाचार्य शास्त्री ने संस्कृत में इसी विषय पर व्याख्यान दिया। वह व्याख्यान रिपोर्ट में छपा है।

इसी रिपोर्ट में कलकत्ते की एक सभा का कार्य-विवरण

छपा है। यह सभा १६ अगस्त १८६२ को हुई थी। इसमें बंगाल के पंडितों की व्यवस्था पढ़ी गई थी जिसमें उन्होंने अपनी सम्मति प्रगट की थी कि समुद्र-यात्रा करने में कोई पाप नहीं है और समुद्र-यात्रा करनेवाला पतित नहीं होता। इस सभा के उद्देश्यों से सहानुभूति रखनेवालों में सर रमेशचंद्र मित्र, महामहोपाध्याय पं० महेशचंद्र न्यायरत्न, सर गुरुदास बैनरजी, महाराजा बहादुर सर नरेंद्रकृष्ण प्रभृति लोग थे।

समुद्र-यात्रा अब चल निकली। प्रायः सभी राजा महाराजा अब विलायत हो आए हैं और उनके यहाँ ब्राह्मण लोग संस्कार बेखटके कराते हैं। राज्याभिषेक के समय महाराजा जयपुर बिलकुल हिंदू आचार व्यवहार के साथ लंदन-यात्रा करने गए थे। वर्त्तमान युरोपीय युद्ध में हिंदू सैनिक लोगों ने युद्ध स्थलों में जाकर अपनी वीरता का परिचय दिया है। पंजाबी विलायत से आकर प्रायश्चित भी नहीं करते। बहुत कोलाहल मचा तो हरद्वार में गंगास्नान कर आए, बस छुट्टी हुई। बंगाल में रास्ता खुल गया है। कोल्हापुर के पास संकेश्वर के शंकराचार्य ने १८७२ में महाराजा होल्कर के एक हिंदू अफसर के विलायत से आने पर जाति में लेने की व्यवस्था दे दी थी। इसी प्रकार गुजरात के कैरा स्थान के शंकराचार्य ने भी व्यवस्था दी थी। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि विलायत जाकर भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं रहता। भारतवर्ष में रहकर जो आचार-भ्रष्ट

होते हैं उनसे ऐसे प्रश्न क्यों नहीं पूछे जाते ? भारत में रहकर कितने आदमी मांसभक्षण से बचे हुए हैं ?

विलायत जाकर भी मांसभक्षण और मदिरापान से बचना संभव है। केशवचंद्र सेन विलायत में केवल चावल और आलू खाकर रहते थे। स्वामी रामतीर्थ ने कोई अभक्ष्य वस्तु नहीं खाई। ऐसा ही अनेक विद्यार्थी भी करते हैं।

समुद्रयात्रा के विरोध का बड़ा भारी कारण यह रहा है कि पहले जो लोग विलायत से लौटते थे प्रायः उनका दिमाग बिगड़ जाता था, उनमें अंग्रेजियत अधिक आ जाती थी, देशहितैषिता सीखने के बदले वे विलायत से घंमड, शांदारी और अंग्रेजों की बुराइयाँ सीख आते थे। अब विलायत से आए हुए हिंदुस्तानी बहुधा देशभक्त होते हैं और उनका आचार व्यवहार भी अच्छा होता है। ज्यों ज्यों ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जायगी, जिनके विलायत में शिक्षा प्राप्त करने अथवा व्यापार करने से स्वदेश को लाभ होगा, त्यों त्यों समुद्रयात्रा का विरोध घटता जायगा और बड़े लोग प्रायश्चित्त के उपहास कराने पर आग्रह कम करेंगे। इस समय तक भी समुद्रयात्रा से लाभ बहुत हुआ है। विलायत जानेवाले भारतवासियों में तीन पार्लेमेंट के मेंबर हुए, कई सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल के सभासद हो चुके हैं, अनेक सिविल सर्विस आदि की परीक्षा पास करके उन उच्च पदों को प्राप्त हुए हैं जिन पर अंग्रेज नियुक्त हुआ करते थे। अंगरेज बैरिस्टरों के स्थान पर भारत-

वासी बैरिस्टरों की संख्या बढ़ रही है जिनमें से लोग गवर्नरी और चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त होने लगे हैं। कई विज्ञानवेत्ताओं और विद्वानों का आदर पहले विदेश में हुआ तब स्वदेश में उन्होंने मान प्रतिष्ठा प्राप्त की। हमारे देश में ही हमारा आदर नहीं होता यह बात हमको विदेश ही जाने से मालूम होती है। यही कारण है कि वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन के प्रायः समस्त नेता ऐसे ही लोग हैं जो विदेश में रह चुके हैं। इस समय अमेरिका आदि स्थानों में अनेक भारतवासी विश्वविद्यालयों में अध्यापक हैं अथवा चिकित्सक का काम करते हैं। बहुत से युरोप के राष्ट्रों में और अमेरिका में भारत के हितार्थ राजनैतिक कार्य कर रहे हैं।

अछूत जातियों का सुधार।

सोशल कानफरेंस के प्रथम कई अधिवेशनों में इस विषय पर कोई प्रस्ताव पास नहीं हुआ। कलकत्ते के दसवें अधिवेशन में इस पर विचार हुआ। अब यह विषय बड़े महत्व का समझा जाता है। बहुत सी सभाएँ जो प्रायः सुधार के विरुद्ध रहती हैं वे भी इस समय इसका समर्थन करती हैं। इस विषय पर वर्त्तमान जाग्रति का कारण राजनैतिक है। मुसलमानों को कौंसिलादि में अपनी जाति के प्रतिनिधि अलग चुनने के अधिकार पर आंदोलन के समय कुछ मुसलमान नेता कह बैठे थे कि हिंदुओं के स्वत्व पर विचार करते हुए अछूत जातियों को

हिंदुओं में नहीं गिनना चाहिए। इस पर हिंदू जाग उठे। स्थान स्थान पर सभाएँ होने लगीं, बड़े बड़े पंडित और शास्त्रज्ञ भी अछूत जातियों के सुधार पर व्याख्यान देने लगे।

१९११ की मनुष्य-गणना के समय सरकारी अधिकारियों में यह चर्चा फैली कि अछूत लोग हिंदू जाति से अलग माने जाँय। हिंदू चौकन्ने हो गए। काशी आदि स्थानों के महामान्य पंडितों ने व्यवस्था दी कि अछूत लोग भी हिंदू हैं। काशी में एक सभा की गई। महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री ने सभापति का आसन ग्रहण किया और शास्त्र के प्रमाण उपस्थित किए कि अंत्यज जाति के लोग भी हिंदू हैं।

इस जाति के लोग भारत के सब प्रांतों में मिलते हैं, परंतु प्रत्येक प्रांत में इनकी अवस्था भिन्न भिन्न है। पंजाब में न केवल लोग नाइयों के हाथ का पानी पीते हैं बल्कि ये लोग यज्ञोपवीत भी धारण करते हैं। अन्य प्रांतों में ये नीच समझे जाते हैं। मद्रास प्रांत में शूद्रों की अवस्था बहुत शोचनीय है। वहाँ के ब्राह्मण उनके साथ पशुओं से भी बुरा बर्ताव करते हैं। मंगलोर के जिले में इन पंचम लोगों के नाम 'बिल्ली' 'कुत्ता' 'मेढक' 'गोजर' इत्यादि रक्खे जाते हैं। इनमें से एक जाति के लोग पत्तों से अपना शरीर ढकते हैं, दूसरी जाति के लोग जमीन के ऊपर थूकने भी नहीं पाते। इसलिये वे गले में एक प्रकार की पीकदानी लटकाए रहते हैं। उन लोगों के नहाने के तालाब, चलने की सड़कें, रहने के मोहल्ले ब्राह्मणों की बस्ती से

बिलकुल दूर हैं, परंतु यदि उनमें से कोई भी ईसाई हो जाय और अपना नाम बदल कर, कोट पतलून डाँट कर किसी ब्राह्मण के घर जाय तो उसका पूरा आदर किया जाता है। इसका परिणाम यह है कि इस जाति के लोग सहस्रों की संख्या में ईसाई बने चले जाते हैं। हमलोग ईसाइयों पर दोष लगाते हैं कि वे नीच जातियों को ईसाई करके अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं। परंतु ईसाई इसको गौरव की बात समझते हैं। एक पादरी बिशप ने लिखा है कि जिस प्रकार पानी भरी हुई देगची आग पर रक्खी जाती है तो पहले नीचे के हिस्से का पानी गरम होता है तब ऊपर गरमी पहुँचती है और पानी उबलने लगता है उसी प्रकार जहाँ नीच जाति के हिंदू ईसाई धर्म्म में प्रवेश कर लेंगे, ऊँची जाति के लोगों पर प्रभाव स्वतः पड़ेगा। इस जाति का जो व्यक्ति ईसाई हो जाता है उसको शिक्षा दी जाती है, सफाई के साथ रहना बतलाया जाता है। दो तीन पीढ़ी में इनमें नीच जाति के अवगुण कम हो जाते हैं।

अछूत जातियों में कुछ लोग ऐसे हैं जो 'जरायमपेशा' समझे जाते हैं अर्थात् जो अपनी जीविका चोरी, ड़कैती आदि से प्राप्त करते हैं। जब कभी उनके गाँव के आस पास चोरी होती है ये लोग पकड़े जाते हैं और सताए जाते हैं।

नीच जातियों के होने से बड़ा नुकसान यह हुआ है कि जो काम इस समय नीच कहलाने वाली जातियाँ करती हैं वह काम भी नीच समझे जाने लगा है। सच तो यह है कि नीच

काम चोरी, व्यभिचार आदि करना या भीख माँगना है, पर हमलोग झाड़ू देना, कपड़ा धोना, बढ़ई, लोहार का काम करना, जूता बेंचना नीच समझने लग गए हैं।

अंत्यजों के सुधार के अनेक प्रयत्न देश में होते चले आए हैं। श्रीरामचंद्र और श्रीबुद्धदेव के प्राचीन काल में और बल्लभाचार्य, चैतन्य आदि महापुरुषों के वर्त्तमान काल में ऐसे लोगों से अनंत प्रेम करने का परिचय इतिहास से मिलता है। आजकल प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज और थियोसाफिकल सोसाइटी इस संबंध में बहुत कार्य कर रही हैं। कई वर्षों से भारतीय अंत्यज-सुधारक-सभा स्थापित है। इसका मुख्य स्थान बंबई है। इसके मंत्री महाशय शिंदे हैं। इसके और इसकी शाखा सभाओं के द्वारा स्कूल चल रहे हैं, जिनमें से मंगलोर की संस्था बड़े महत्व की है। इसमें भाषा और अन्य विषयों के अतिरिक्त दस्तकारी, कपड़ा बिनना आदि सिखलाया जाता है। स्कूल के साथ छात्रालय भी है। यहां लड़के और लड़कियाँ दोनों पढ़ते हैं जिनकी संख्या सौ से ऊपर है। इसके साथ ही पंचम लोगों की बस्ती बसाई गई है और इसमें भी सौ से ऊपर निवासी हैं। इस बस्ती में अंत्यज लोग सकुटुंब रहते हैं। ये प्रति दिन स्नान करते, मादक वस्तुओं के प्रयोग से बचते हैं, सप्ताह में एक दिन सब मिल कर भजन गाते हैं। समय समय पर इनके लिये विशेष व्याख्यानों का प्रबंध किया जाता है। धीरे धीरे कार्यकर्त्ताओं में भी शिक्षित अंत्यज सम्मिलित होते जाते हैं।

इस प्रकार का काम मुक्ति फौज के ईसाई जो हिंदू साधुओं के भेष में रहते हैं बहुत करते हैं। उनकी अनेक संस्थाएँ हैं। हिंदू यदि जीवित रहना चाहते हैं तो इसी प्रकार की संस्थाएँ खोलें, पंचम लोगों से घृणा न करें, उनको साफ और शिक्षित देख कर प्रसन्न हों। भारतवर्ष की कुल मनुष्य संख्या में पाँचवा हिस्सा पंचम हैं। इनको अछूत नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार मुसलमानों की नेमाज में सब बराबर समझे जाते हैं उसी प्रकार देवपूजन में इनको शरीक करना चाहिए। तब इन में से अनेक "रैदास" उत्पन्न होंगे और इस देश में भक्ति भाव का पुनः प्रवाह बहेगा।

१९०३ और १९०८ में कानफरेंस के जो अधिवेशन मद्रास में हुए थे उनमें विलायत से आए हुए प्रतिनिधियों के इस विषय पर सुंदर व्याख्यान हुए थे। मिस बेलग्रीन ने १९०३ में कहा था कि विलायत में शूद्र लोग अर्थात् कारीगर, मोची, चमार, बढ़ई, लोहार आदि जाति के प्राण समझे जाते हैं। इन में से यदि कोई प्रयत्न करे तो पार्लामेंट का सभासद हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि 'इस देश में ब्राह्मण नशा नहीं पीते, शूद्र पीते हैं परंतु ब्राह्मण अपना यह कर्त्तव्य नहीं समझते कि शूद्रों को शराब पीने से रोकें। यदि इनकी शराब छुड़ा दी जाय तो आबकारी से सरकारी आमदनी कम हो जाय।' परंतु खेद तो यह है कि नवीन सभ्यता के फेर में ब्राह्मण ही शराब के शिकार बन रहे हैं।

१९०८ के अधिवेशन में डाक्टर क्लार्क (मेंबर पार्लामेंट) ने इस विषय पर व्याख्यान देते हुए कहा कि भारत की राजनैतिक उन्नति के पक्ष में जब वे पार्लामेंट में आवाज उठाते हैं तब विरोधियों में एक दल यह कहता है कि भारतवर्ष के मुट्ठी भर शिक्षित और उच्च जाति के लोगों को स्वराज्य देना बुद्धिमत्ता नहीं है। भारत की भविष्य राजनैतिक वृद्धि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि यहाँ के शिक्षित लोग अछूत जाति के लोगों से किस प्रकार बर्ताव करते हैं।

इस अधिवेशन में इसी विषय पर व्याख्यान देते हुए माननीय गोखले जी ने कहा था "मैं राजनैतिक क्षेत्र में उतने ही शुद्ध हृदय से काम कर रहा हूँ जितना मेरे अनेक देशवासी कर रहे हैं तिस पर भी आपस में बैठ कर मैं यह कहता हूँ कि हमको अपने दोष और अपनी त्रुटियाँ छिपाने से कोई लाभ नहीं। मेरी सम्मति में इससे बढ़ कर दूसरा कलंक नहीं है कि हमने इन पाँच करोड़ ३० लाख मनुष्यों को इस दशा में रख छोड़ा है।" आगे चल कर उन्होंने कहा कि ४० वर्ष पूर्व जापान में 'जीता' नाम की जाति भी अछूत लोगों की नाईं समझी जाती थी, वे सड़क की रद्दी जमा किया करते थे। उनसे कोई छूता नहीं था। उनके लिये सभ्यता नहीं थी। परंतु जब जापान में नए विचारों का प्रादुर्भाव हुआ, जब वे अपनी दशा पर सोचने लगे, उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। मिकादो (राजा) ने राजाज्ञा प्रकाशित की कि 'जीता' जाति का भेद मिटा दिया

जाय। इस समय इस जाति के लोग ऊँची जाति के लोगों से बराबरी का दावा रखते हैं।

भारतवर्ष विशाल देश है। जहाँ अछूत जातियों, जरायम पेशा लोगों के शिक्षा और सुधार की आवश्यकता है वहाँ नित्य प्रति स्थान स्थान पर घूमनेवाले बंजारों, पहाड़ों और जंगलों में रहनेवाले असभ्य लोगों की शिक्षा और उनका सुधार भी श्रेयस्कर है। सरकार और ब्रह्म-समाज आदि संस्थाओं द्वारा कुछ कार्य हो रहा है परंतु वह संतोषजनक नहीं है।

१६ मार्च १६१६ को बड़े लाट की कौंसिल में मध्य प्रदेश के माननीय दादाभाई ने इस विषय पर प्रस्ताव उपस्थित किया था। उसके संबंध में प्रांतिक सरकार से सम्मति माँगी जा रही है। यद्यपि सरकार 'भर' आदि अत्यंज जातियों के लिये प्रारंभिक स्कूल खोल रही है परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि अब तक दिल खोल कर सरकर ने ऐसी जातियों की शिक्षा का पूरा प्रबंध नहीं किया है।

अछूत जातियों को अपनाने के विषय पर जितना अधिक जोर महात्मा गांधी ने दिया है उनके पहले किसी नेता ने नहीं दिया था। उनके हृदय में इस जाति के लिए सच्चा प्रेम है। वे भारत की उन्नति के लिए इनका उत्थान एक आवश्यक साधन मानते हैं। उन्होंने अपने आश्रम में भी इनको भरती किया है। आपने एक बेर कहा था कि ईश्वर मुझे दूसरे जन्म में इस जाति में उत्पन्न करे जिसमें मैं भी उस अन्याय और कष्ट को सहूँ जो

यह जाति सह रही है, इस प्रकार अपनी सहानुभूति प्रकट करूँ। महात्मा गांधी के प्रभाव से कांग्रेस में इस विषय के पक्ष में कई वर्षों से प्रस्ताव पास हो रहे हैं और इस जाति के प्रतिनिधी भी उसमें चुने जाते हैं।

डिस्ट्रिक बोर्डों ने अछूत जाति के स्कूल खोले हैं जिनके लिए निरीक्षक भी अलग नियुक्त हुए हैं।

शुद्धि।

दूसरे धर्मवालों को हिंदू धर्म में ले लेने की प्रथा को उत्तरीय भारत में "शुद्धि" कहते हैं, यद्यपि यह शब्द अच्छा नहीं है। सोशल कानफरेंस का मत मतांतर से कोई संबंध नहीं है इस लिये कानफरेंस में जो प्रस्ताव इस संबंध में उपस्थित होते हैं वे केवल उन लोगों की शुद्धि के पक्ष में होते हैं जो जन्म से हिंदू थे, फिर ईसाई या मुसलमान हो गए और पुनः अपनी इच्छा से हिंदू धर्म्म में आना चाहते हैं। पहले के अधिवेशनों में इस विषय पर कभी विचार नहीं हुआ परंतु १८६७ से प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस संबंध में प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है। पहले विरोध का डर अधिक था इस लिये लंबी चौड़ी युक्तियुक्त वक्तृताएँ हुआ करती थीं परंतु अब प्रायः सभापति ही इस विषय के प्रस्ताव को उपस्थित कर देते हैं। हिंदू समाज में इसकी आवश्यकता के संबंध में अब संदेह कम हो रहा है। हिंदू समाज इस समय ऐसे घर की नाईं हो रही है जिसके बाहर जाने का द्वार खुला हो और अंदर आने का द्वार बंद हो।

ऐसे घर को खाली होने में बहुत दिन नहीं लगते। मुसलमानों के राज्य में हिंदुओं की संख्या कम हो गई। भारत की वर्तमान मुसलमान प्रजा पहले हिंदू धर्म्मावलंबिनी थी। ईसाई मत के प्रचार होने पर यह संख्या और कम होने लगी। अकाल, महा-मारी, आदि के कारण सहस्रों की संख्या में हिंदू ईसाई होने लगे। अछूत जाति के लोग हिंदुओं से अलग होने लगे। इस प्रकार हर तरह से हिंदुओं की क्षति ही होने लगी। जो हिंदू धर्म्म से बाहर हुए वे सदा के लिये अलग हो गए। ऐसे लोग या तो जबरदस्ती, या प्रलोभनों में पड़ कर या अपने विश्वास से दूसरे धर्म में जाते हैं। इनमें से कई पश्चात्ताप करते हैं, अपनी अवस्था पर रोते हैं परंतु हिंदू समाज इनको दूर रखता है।

इतिहास से सिद्ध है कि भारत में पहले बौद्ध धर्म्म का प्रबल जोर था। श्री शंकराचार्य ने लोगों को फिर हिंदू धर्म में शरीक कर लिया। महाराष्ट्र राज्य के समय राजाज्ञा द्वारा कई हिंदुओं ने जो यवन धर्म में चले गए थे फिर से हिंदू धर्म में प्रवेश किया। सिक्ख धर्म्म सब धर्म्मवालों को अपने में मिलाने के लिये तय्यार है। महाराजा काश्मीर ने इस विषय के पक्ष में प्रसिद्ध पंडितों की व्यवस्था रणवीर प्रकाश नाम पुस्तक में संग्रह करवाई थी। पंजाब की कई सनातन धर्म सभाएँ शुद्धि करती हैं, पर शुद्धि के काम में इस समय अगुआ बनने का यश आर्यसमाज को प्राप्त है। हजारों भूले भटके बच्चों को आर्य समाज ने अपने माता पिता के धर्म में मिलवा दिया। हजारों

अछूत जातिवालों की अवस्था बदल दी। इस काम के लिये पं० लेखराम और पं० भोजदत्त का नाम इतिहास में स्मरणीय रहेगा।

कुछ वर्ष हुए एक अखिल भारतीय शुद्धि सभा स्थातिप की गई थी जिसके अग्रगण्य, कलकत्ता हाईकोर्ट के सनातन धर्मी भूतपूर्व जज श्री शारदाचरण मित्र थे। यद्यपि यह सभा टूट गई तथापि इसके द्वारा उन लोगों में इस विषय के लिये सहानुभूति उत्पन्न हो गई जो बहुधा सुधारक संस्थाओं से दूर रहते हैं।

मद्रास प्रांत के मलाबार जिले में मोपला मुसल्मानों ने १६२१ में जो विप्लव खड़ा किया उसमें अनेक हिंदू नर नारियों को जबरदस्ती मुसल्मान बना लिया जिससे सारे भारतवर्ष के हिंदुओं में हाहाकार मच गया। काशी के पंडितों ने देवल स्मृति के आधार पर, अनेक पीठों के शंकराचार्य्यों ने और प्रायः समस्त स्थानों के हिंदू नेताओं ने यहाँ तक कि नाम बूढ़ी ब्राह्मणों ने भी अपनी सम्मति प्रगट की कि ऐसे लोगों को अवश्य ही हिंदू समझना चाहिए और थोड़े से प्रायश्चित से इनकी शुद्धि कर लेनी चाहिए। मुसल्मानों के भी अनेक नेताओं ने कहा कि जो लोग जबरदस्ती मुसल्मान बना लिए गए हैं वे मुसल्मान न समझे जायँ। इस एक घटना से इस विषय पर जितनी सहानुभूति बढ़ गई है उतनी वर्षों के व्याख्यानों से नहीं हुई थी।

बहुत से लोगों का ख्याल है कि शुद्धि की प्रथा चलाने से मुसलमान और ईसाई हिंदुओं से अप्रसन्न हैं। परंतु सोचने की यह बात है कि क्या हर एक व्यक्ति को अपना मत आप चुन लेने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है कि यदि वह किसी मत विशेष से असंतुष्ट हो तो उसको त्याग कर अथवा सुधार कर नवीन मत ग्रहण करे। महान पुरुषों के जीवन और जातियों के इतिहास इस कथन की सत्यता की साक्षी दे रहे हैं। ऐसी अवस्था में यदि हिंदू भी अपने वर्तमान समाज को इस प्रकार परिवर्त्तित करें कि अन्य धर्मावलंबी इसमें प्रवेश कर सकें तो इसमें दूसरे धर्मवालों के बुरा मानने की क्या बात है। जहाँ यह प्रथा चल निकली कोई बुरा नहीं मानेगा। इसके विपरीत आपस में प्रेम बढ़ेगा और दंभियों की संख्या कम हो जायगी क्योंकि इस समय बहुत से लोग सामाजिक दंड के कारण अपने हृदय के धार्मिक भावों को दिल ही में रख छोड़ते हैं। इस विषय पर सब से अच्छे शब्दों में १९०० की लाहोर की सोशल कानफरेंस ने प्रस्ताव पास किया था जिसका अनुवाद यह है—

"यह सम्मेलन उस उद्योग को संतोष की दृष्टि से देखता है जो पंजाब, संयुक्त प्रांत और मध्य प्रदेश में अन्य मतों में चले जानेवाले लोगों को स्वधर्म्म में पुनः प्रवेश कराने के लिये हो रहा है क्योंकि इस प्रकार के प्रवेश से धार्मिक भावों की सत्यता बढ़ेगी और हर प्रकार से सामाजिक प्रेम पुनः स्थापित होगा।"

अन्य धर्मावलंबियों के हिंदू धर्म स्वीकार करने अथवा उसकी प्रशंसा करने पर अब स्वयं हिंदू भी प्रसन्न होते हैं। एनी बेसेंट और सिस्टर निवेदिता की कृतज्ञता कौन हिंदू अस्वीकार करेगा? मैक्समूलर के गुण हिंदूमात्र गाते हैं क्योंकि उन्होंने पक्षपात रहित हो युरोपियन लोगों में हिंदुओं के प्राचीन शास्त्र और इतिहास की मान मर्यादा बढ़ाई। इतिहास पढ़नेवाले हिंदू विद्यार्थी अकबर, फैजी और दारा के हिंदू-प्रेम की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते।

विधवा-विवाह।

कानफरेंस के विषयों में इससे अधिक विवादग्रस्त दूसरा विषय नहीं है। इस विषय पर अनेक बेर विचार हुआ है और प्रत्येक स्थान में झगड़े की संभावना रही है।

पहले कई वर्षों तक इस विषय पर कोई प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया गया। पाँचवीं कानफरेंस में निर्विवाद यह प्रस्ताव पास हुआ। श्री बाल गंगाधर तिलक ने यह सुधार पेश किया था जो लोग विधवा-विवाह करें उनके साथ सह-भोज होना चाहिए।

सातवीं कानफरेंस में लाला देवराज जी ने बतलाया था कि उस समय केवल पंजाब में ४ वर्ष तक की ८१६ विधवाएँ थीं; पाँच और नौ वर्ष के बीच की २६३४; दस और चौदह वर्ष के बीच की ९१३९; पंद्रह और उन्नीस के बीच की ३५, ४०७; बीस और चौबीस के बीच की ५८०४८।

मद्रास में आठवीं कानफरेंस में अध्यापक वीर सलिंगम पंतलू ने जो मद्रास प्रांत के ईश्वरचंद्र विद्यासागर कहे जाते हैं व्याख्यान दिया।

मद्रास में जब बारहवीं कानफरेंस हुई तब इस विषय पर कुछ थोड़ा सा विरोध हुआ था परंतु वह शीघ्र ही शांत हो गया।

१६०१ में जब कानफरेंस कलकत्ते में हुई तब इस विषय का विपत्तियों ने बलपूर्वक विरोध किया था। सभापति थे राजा विनय कृष्ण बहादुर जो सनातनधर्मावलंबी होने पर भी सुधार के पक्षपाती थे। इस विषय पर जो प्रस्ताव था उसके संबंध में वे उदासीन थे। प्रस्ताव के शब्द ये थे,"इस सम्मेलन को अत्यंत दुःख है कि जिस (बंगाल) प्रांत ने सब से पहले विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावटों को दूर करने का प्रयत्न किया था उस प्रांत में इस ओर अब उद्योग कम हो और अन्य प्रांत उसकी अपेक्षा इस कार्य्य में अधिक सफलता प्राप्त करें इत्यादि" इस विषय के व्याख्यानदाताओं के वक्तव्य में लोग विघ्न डालने लगे। अंत में प्रस्ताव पास हुआ। इस अवसर पर सर नारायण चंदावरकर का व्याख्यान कानफरेंस के इतिहास में अंकित करने योग्य है। जब सभापति उदासीन हों और चारों ओर से विरोधी चिल्ला रहे हों, विरोधियों में कुछ फसाद करनेवाले भी हों ऐसे समय में श्रोताओं को अपने पक्ष में कर लेना टेढ़ी खीर है। चंदावरकर इसमें सफलीभूत हुए। इस अवसर पर

डाक्टर बुलीचंद्र सेन ने अपने व्याख्यान में बतलाया था कि बंगाल में एक वर्ष से चार वर्ष के अंदर की २३४८; पाँच से नौ के बीच में ७६६४, दस से चौदह के बीच में २६८६३ और कुल ४० १७५ विधवाएँ उस समय थीं।

कई स्थानों में लोगों ने सलाह दी कि कानफरेंस से विधवा-विवाह का विषय निकाल दिया जाय। १८६६ में भी जब कलकत्ते में कानफरेंस हुई थी रानडे को उनके बंगाली मित्रों ने ही सलाह दी थी। परंतु यह सलाह मानी नहीं गई।

मद्रास की सत्रहवीं कानफरेंस और काशी की उन्नीसवीं कानफरेंस के अधिवेशनों में यह आशंका थी कि इस विषय पर घोर विरोध होगा पर यह आशंका निर्मूल निकली। इस संबंध में सब से विचारपूर्ण प्रस्ताव प्रयाग में १६१० की कानफरेंस में पास हुआ था जो यह था—

"युवा विधवाओं की शोचनीय अवस्था का सुधार प्रत्येक प्रांत में विधवा आश्रमों के खोलने या आश्रमों की संख्या बढ़ाने, उनको कलाकौशलादि की शिक्षा देने और जो पुनर्विवाह करना चाहें उनको निर्विघ्न ऐसा करने की आज्ञा देने से हो सकता है।"

विधवा-विवाह के समर्थक यह नहीं चाहते कि संसार की सब विधवाओं का विवाह कर दिया जाय। सुधारक कृतज्ञता पूर्वक उन महिला-रत्नों के उच्च आदर्श और पवित्र जीवन को स्वीकार करते हैं और उनको देश की आध्यात्मिक संपत्ति समझते हैं जो अपने वैधव्य काल को आत्म-विचार और आत्मो-

न्नति में लगाती हैं। सुधारक मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि हिंदू-समाज का यह नियम अत्यंत प्रशंसनीय है कि प्रत्येक कुटुंब किसी न किसी निराश्रया विधवा का थोड़ा बहुत पालन पोषण करके यश का भागी होता है।

सुधारक विधवाश्रम खोलने का प्रयत्न इसीलिये करते हैं कि विधवा स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त हो और वे देश की सेवा करने योग्य बनें। परंतु यह निर्विवाद है कि विधवाओं के साथ अच्छा बर्ताव नहीं होता। अनेक जातियों में उनका सिर मुड़वा डाला जाता है, प्रातःकाल उनका मुँह देखना बुरा समझा जाता है, यदि कोई बाहर जाता हो और विधवा सामने पड़ जाय तो अशगुन समझा जाता है।

बाल-विधवाओं की अवस्था विशेष कर शोचनीय है। चालिस, पचास और साठ वर्ष के मर्दों के विवाह हो जाते हैं परंतु नौ वर्ष की विधवा का विवाह नहीं हो सकता। उससे आशा की जाती है कि ब्रह्मचारिणी रहे जब कि घर के अन्य लोग ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों के बिलकुल विपरीत चलते हैं। कहा जाता है कि बाल-विवाह बंद हो जाने पर विधवा-विवाह की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, मानो जो बालिकाएँ पहले से विधवा हो चुकी हैं उनकी अवस्था विचार योग्य ही नहीं है। क्या कोई कह सकता है कि बाल-विवाह दूर होने पर मर्दों में असामयिक मृत्यु ही नहीं होगी और क्या बालविवाह संतोष-जनक रूप से कम हो रहा है?

विधवा-विवाह संबंधी आंदोलन पेशवाओं के समय से चला आ रहा है। परशुराम भाऊ की कन्या का विवाह पांच और नौ वर्ष की अवस्था के बीच में हुआ था। यह लड़की विधवा हो गई तो परशुराम अत्यंत दुःखित होकर संसार से विरक्त होने पर तैयार हुए। पेशवा दर्बार ने शंकराचार्य और काशी के पंडितों से उसके पुनर्विवाह की व्यवस्था मांगी। शंकराचार्य ने व्यवस्था नहीं दी परंतु काशीस्थ पंडितों ने दे दी। इस व्यवस्था पर सैकड़ों हस्ताक्षर थे। परंतु विवाह कन्या की माता के विरोध के कारण रुक गया।

१८३७ में महाराष्ट्र देश में एक तेलगु ब्राह्मण और रत्नागिरी के एक निवासी ने मिल कर इस विषय के पक्ष में एक पुस्तक लिखी थी। इसके पीछे एक और पुस्तक निकली थी। बाबा पद्माजी ने भी "कुटुंब सुधारण" और "यमुनापरयटन" नाम की दो पुस्तकें इसी विषय पर लिखी थीं। पर बाल-विधवाओं की अवस्था पर पूर्ण दया करनेवाले सब से पहले बंगाल में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर हुए। उन्होंने १८५४ में इस विषय पर बड़ी खोज के बाद शास्त्रों के प्रमाणों से भरी हुई बँगला पुस्तक लिखी। यह पुस्तक देश भाषा में लिखी गई थी इसलिए इसका बड़ा विरोध हुआ। कई स्थानों पर इसके विरुद्ध सभाएँ हुईं पर इस बेर भी सरकार के पूछने पर पंडितों ने इसके पक्ष में सम्मति दी। इस समय देश में खूब आंदोलन था, जिसका परिणाम यह हुआ कि १८५६ में यह कानून पास हुआ कि

विधवा के पुनर्विवाह से जो संतान उत्पन्न होगी वह अनाधिकारी नहीं समझी जायगी। इसमें सफलता प्राप्त कर विद्यासागर ने सात दिसंबर १८६५ को कलकत्ते में पहला विधवा-विवाह करवाया। विद्यासागर और उनके अन्य मित्र बिरादरी से निकाले गए। विद्यासागर ने अपना काम जारी रखा यहाँ तक कि अपने लड़के का विवाह भी उन्होंने एक विधवा से किया। इस आंदोलन में विद्यासागर निर्धन हो गए। उन पर हजारों रुपयों का ऋण हो गया। उनके बाद बंगाल में शशिपदो बैनरजी ने विधवाश्रम खोल कर विधवाओं की बड़ी सहायता की, पर बंगाल में इस सुधार की ओर रुचि कम होती गई।

१८६६ में बंबई में विधवा-विवाह सभा स्थापित हुई इसमें रानडे, तैलंग, परमानंद आदि शरीक हुए। पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तक का विष्णुशास्त्री पंडित ने मराठी भाषा में अनुवाद किया। इस पर बड़ा विरोध हुआ। चारों ओर से शास्त्रार्थ शुरू हो गया। विष्णुशास्त्री जितने अच्छे लेखक थे उतने ही अच्छे वक्ता भी थे। उन्होंने नासिक, पूना आदि स्थानों में जाकर व्याख्यान देने शुरू कर दिए। उनके विरुद्ध भी व्याख्यान होने लगे। लोगों में इस विषय की चर्चा छिड़ गई। १५ जून १८६९ को वेणुबाई का जो बाल-विधवा थीं विवाह पांडुरंग विनायक करमरकर से हुआ। विष्णुशास्त्री को धमकी के पत्र आने लगे परंतु उन्होंने इसकी परवाह न की। उन्हों

इस विवाह को बड़े धूमधाम से रचा। जिन सात आदमियों के हस्ताक्षर से निमंत्रणपत्र भेजे गये थे उनमें रानडे भी थे। विष्णुशास्त्री ने स्वयं विवाह संस्कार कराया। इसके साथ भोज दिया गया जिसमें बहुत से लोग शरीक हुए। यह पहला विवाह था तिस पर भी अनेक सहानुभूति प्रकट करनेवाले मिल गए। विरोधियों ने इन लोगों को बिरादरी से निकालने की ठानी। अंत में सोच विचार कर केवल हस्ताक्षर करानेवाले सातों आदमी, और वर और वधु निकाले गए।

२८ मार्च १८७० से पूना में इस विषय पर शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। यह नौ दिन तक रहा। विष्णुशास्त्री शास्त्रार्थ करते थे। रानडे उनके सहायक थे। ५ आदमी सुधारक लोगों की तरफ से और ५ विरोधियों की ओर से पंच नियत हुए। सुधारकों के पक्षातियों में से एक जो उनको शास्त्रों के प्रमाण तलाश करके देते थे दूसरे दल में जा मिले। इसके बाद कुछ मुकदमेबाजी हुई। इंदुप्रकाश में २५० आदमियों की सम्मतियाँ विधवाविवाह के पक्ष में प्रकाशित हुईं। ६ जून को दूसरा पुनर्विवाह हुआ। दो वर्ष के अनंतर स्वयं विष्णुशास्त्री ने विधवा से विवाह किया। इसी समय रानडे ने इस विषय पर अंग्रेजी में शास्त्रों के प्रमाणों का उल्था छपावाया। धीरे धीरे गुजरात प्रांत में भी आंदोलन आरंभ हुआ। १८८४ में मालावारी ने इस विषय पर लेख लिखीं और आंदोलन आरंभ किया। इस काम में दीवान बहादुर रघुनाथराव ने जो सनातन धर्मावलंबी

प्रसिद्ध थे मालावारी का हाथ बँटाया। प्रिंसपल आगरकर और अध्यापक कर्वे ने भी विधवाओं के कार्य में बड़ी सहायता की। कर्वे ने स्वयं विधवा से विवाह किया। उस समय तिलक के पत्र ने और अन्य कई सनातनधर्मी पत्रों ने भी दबी जबान से उनकी प्रशंसा की। कर्वे बहुत दिनों तक विधवा-विवाह के पक्ष में स्थान स्थान पर व्याख्यान देते फिरते थे। एक वेर वे बंबई व्याख्यान देने गए। रानडे भी वहाँ उपस्थित थे। व्याख्यान का प्रभाव लोगों पर अच्छा पड़ा। एक युवा पुरुष ने खड़े होकर कहा कि विधवा-विवाह के सर्वप्रिय न होने का दोष रानडे पर आता है क्योंकि वे अपने सिद्धांतों पर नहीं चलते। इस युवा पुरुष का तात्पर्य शायद यह था कि रानडे को अपनी पहली स्त्री के मरने पर विधवा से विवाह करना चाहिए था। रानडे ने शांतिपूर्वक खड़े होकर कहा—"हम तो लँगड़े और लूले हैं। आप लोग आगे बढ़िए, हम भी आप के पीछे लँगड़ाते हुए धीरे धीरे चले आवेंगे" यह कह कर रानडे ने बड़ी मार्मिक-पूर्ण वक्तृता दी।

कर्वे के साथियों में अध्यापक भाटे और भाजेकर ने भी बड़ा कार्य किया है। इस संबंध में डाक्तर भांडारकर का जो [illegible] के अगुआ हैं नाम लिखना आवश्यक है। इन सब ने जो [illegible] वह कर दिखलाया।

संयुक्त प्रांत में शाहजहांपुर के लाला बख्तावर[illegible]ह और बिजनौर के पंडित श्रोत्रिय शंकरलाल विधवा-विवाहप्रचारकों

में प्रसिद्ध हुए हैं। काश्मीरी ब्राह्मणों ने पहला विधवा-विवाह १६१६ में आगरे में हुआ। इसमें घर की बूढ़ी स्त्रियां और पुरोहित भी शरीक हुए। परंतु इस जाति में सबसे पहले इस विषय पर आंदोलन कलकत्ते के जस्टिस शंभूनाथ के पुत्र पं० प्रानन्नाथ ने आरंभ किया था।

पंजाब में दीवान संतराम ने जो चौदहवीं कानफरेंस के सभापति हुए थे अपनी विधवा कन्या का विवाह काशी, प्रयाग आदि स्थानों के पंडितों से पूछ कर किया था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि पंजाब में सैकड़ों विधवाओं के विवाह हो चुके हैं। यद्यपि स्वामी दयानंद सरस्वती विधवा-विवाह के विरुद्ध थे तो भी आर्यसमाज द्वारा इस सुधार को बड़ी सहायता मिली है। पहले प्रत्येक कानफरेंस में वर्ष के अंदर जितने पुनर्विवाह हुआ करते थे उनकी संख्या का उल्लेख होता था; परंतु अब ऐसे विवाहों की संख्या बढ़ रही है। इसके भी अब अनेक उदाहरण मिलते हैं कि बाल-विधवाओं की माताएँ उनके पुनर्विवाह के लिए अपनी सम्मति दे देती हैं।

मद्रास में सबसे पहला विधवा-विवाह १८८१ में हुआ था। उस समय से अध्यापक वीर सलिंगम पंतलू अजाती किए गए थे। उन्होंने राजमहेंद्री में विधवा-विवाह सभा खोल कर अनेक पुनर्विवाह कराए।

अब विधवाओं की अवस्था पर दया करनेवालों की संख्या बढ़ रही। जो लोग उनके लिये आश्रम खोल कर उनको

अध्यापिका के अथवा चिकित्सा के काम के योग्य बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं वे देश के सच्चे हितैषी हैं और जो आवश्यकता पड़ने पर किसी प्रकार बाल विधवाओं के विवाह में मदद करते हैं वे सुधारक वीर पुरुष कहे जाने योग्य हैं। विधवा विवाह का प्रश्न स्त्रियों के प्रति न्याय का प्रश्न है। मर्दों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने पहली स्त्री के मरने के दो एक महीने के अंदर दूसरा विवाह कर लिया, परंतु स्त्री यदि बाल विधवा भी हो तो उसका विवाह धर्मविरुद्ध समझा जाता है। आदर्श यह होना चाहिए कि मर्द एक पत्निव्रत लें और स्त्रियां एक ही पति से विवाह करें और यदि यह न निभे तो जिस मर्द की स्त्री मर जाय वह यथासंभव विधवा से विवाह करे, जो विधवा से विवाह कर ले उसको अजाती नहीं करना चाहिए। इस समय यदि कोई मर्द किसी विधवा को अपने घर में रख लेता है तो इस घोर पाप के कारण बिरादरी से अलग नहीं किया जाता परंतु यदि वह उससे विवाह कर ले तो जात समझा जाता है। इस प्रकार समाज, व्यभिचार रोकने के बदले उसके बढ़ने का कारण बन गया है।

नाच और नशे से परहेज।

राजा रामपाल सिंह (कालाकाँकर) ने आठवीं कान्फरेंस में कहा था कि जिस राजा के घर में हाथी न हो और रंडी नाचने न बुलाई जाय वह मनहूस समझा जाता है। इस देश में नाच की प्रथा इतनी बढ़ गई है कि विवाहादि अवसरों पर

यहाँ तक कि मंदिरों के उत्सवों पर, रंडियाँ बुलाई जाती हैं। इस विषय पर कानफरेंस में सदा प्रस्ताव उपस्थित होते हैं। देश के भिन्न भिन्न भागों में नाच के विरुद्ध और चरित्र सुधार संबंधी संस्थाएँ इस प्रथा को दूर करने के लिये स्थापित हैं। इनमें न केवल नाच ही के दूर करने का प्रयत्न किया जाया है बल्कि होली आदि त्योहारों पर और अन्य अवसरों पर गाली बकने और नशा पीने का निषेध भी किया जाता है। गंदी बातें करने, गंदे विचार रखने और घृणित कार्य करने के विरुद्ध ये सभाएँ बड़े उपकार का काम कर रही हैं। इनके द्वारा नाच कम हो रहा है, होली के त्योहार पर "पवित्र होली" नाम की सभाएँ होती हैं जिनमें शिक्षित लोग और नगर के बच्चे संगीत, जादू की लालटैन का तमाशा अथवा अन्य मनोरंजन की बातों से अपना मन बहलाते हैं। कायस्थ और दूसरी बिरादरियों की कानफरेंसों के अनुरोध से अब अनेक बिरादरियों में विवाहादि अवसरों पर नाच नहीं होता और शराब नहीं पी जाती। कुछ लोग कहते हैं कि रंडियों का नाच बंद करने से भारत के संगीत को क्षति पहुँचेगी। सुधारक यह नहीं चाहते कि देश से संगीत उठ जाय। सुधार सभाओं में और सुधारक लोगों के संस्कारों में संगीत को ऊँचा आसन दिया जाता है, यद्यपि संगीत-शास्त्र के अनुसार उनके भजन और गीत ऊँचे दर्जे के नहीं होते। आशा है कि दिन पा कर सुधारक लोगों में भी अच्छे कवि और गानेवाले पैदा होंगे। गानेवाली स्त्रियां बाजारू

होती हैं। वे संसार में व्यभिचार फैलाती हैं। वे अनेक प्रकार के आभूषण और भड़कीले वस्त्र पहन कर लोगों के सामने आती हैं। जलसों में नाच दिखला कर वे रुपया ही नहीं पातीं बल्कि नवयुवक दर्शक लोगों में से कई उनके शिकार हो जाते हैं। अमीरों के बालक बहुधा इसी तरह उनके पंजे में फँस कर चौपट हुए हैं। हम लोगों को चाहिए कि संस्कारों और त्योहारों पर रंडियों का नाच न करावें और किसी ऐसे जलसे में शरीक न हों जहां नाच हो। पवित्र काशीपुरी में जहाँ श्रीगंगाजी बहती हैं, किश्तयों पर हर साल एक मेला होता है जहाँ रंडियाँ नचाई जाती हैं। इसमें राजा महाराजा सब शरीक होते हैं। लोग अपने छोटे छोटे बच्चों को साथ लेजा कर नाच दिखलाते हैं। स्कूलों और पाठशाओं में छुट्टी रहती है। इस प्रकार बालकों में ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले विचार उत्पन्न किये जाते हैं। कभी कभी अंग्रेज अफसरों के सम्मानार्थ जो जलसे होते हैं उन में भी नाच रहता है। अंग्रेज इसको पसंद नहीं करते परंतु वे बेचारे यह समझ कर शरीक हो जाते हैं कि भारतवासी शायद खातिर इसी तरह करते हैं। अब वे इसे समझ गए हैं और कई ऊँचे दर्जे के अंग्रेज नाच में आने से इनकार करते हैं।

नाचना, गाना दोनों अच्छी बातें हैं। भले घर की स्त्रियाँ भी गाती हैं परंतु नाच का अद्भुत गुण केवल वारांगनाओं में पाया जाता है। गृहस्थ स्त्रियाँ भी यदि इसे सीखें तो क्या दोष

है ? क्या प्राचीन समय में ऐसा नहीं था ? श्री० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने इस विषय में बड़ी मर्मभेदी बात कही है ।

"मेरी सदा से यह सम्मति रही है कि जो आदमी नाचने-वाली स्त्रियों की धन से सहायता करता है वह अधर्म के जीवन से जिसको वह खुल्लम खुल्ला स्वीकार करती हैं पूरी तरह से घृणा नहीं करता अथवा स्त्रियों के सतीत्व का जिसके कारण अन्य उत्कृष्ट गुण उत्पन्न होते हैं उतना आदर नहीं करता जितना उसको करना चाहिए । 'नाच' की प्रथा से मर्दों और स्त्रियों के धार्मिक जीवन पर हानिकारक प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता । मैं बिना पुष्ट प्रमाण पाए हुए कभी उस पुरुष के अपनी स्त्री का सच्चा पति होने में विश्वास नहीं कर सकता जो अपने यहां नाच कराता है या दूसरे के यहाँ नाच में शरीक होता है । अपने ही घर में नाच कराना मानो अपने कुटुंब के बालक और बालिकाओं को अधर्म की प्रत्यक्ष शिक्षा देना है, विशेष कर बालकों को । जब लों हम लोगों में नाच का फैशन रहेगा और हम लोग मनमाना इसमें शरीक होंगे यह असंभव है कि हमारे मर्दों में बहुत धार्मिक भाव बढ़े और स्त्रियों के आदर के भाव में वृद्धि हो ।"

मादक वस्तुओं के प्रयोग के निषेध पर कानफरेंस में सदा बड़ा जोर दिया जाता है । हमारे देश में नशा पीना सदा से बुरा समझा जाता है । शराब पीने का रिवाज पहले यहाँ उच्च और शिष्ट लोगों में बिल्कुल नहीं था । समस्त जाति मदिरापान

को चरित्र का दूषण और पाप का मार्ग समझती थी। यह हमारे जातीय जीवन का गौरव बढ़ानेवाली विशेषता थी। परंतु अब यह दोष बढ़ता जा रहा है। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों में विलायती शराब और अन्य लोगों में देशी शराब पीना बढ़ रहा है। पहले जो कोई पीता भी था तो छिपा कर, अब खुल्लम-खुल्ला बोतलें खाली की जाती हैं। मेलों में कलवरिया खोली जाती हैं। गिरती हुई जाति विदेशियों के गुणों की ओर नहीं देखती उनकी बुराई को तुरंत ग्रहण कर लेती है। अंग्रेजी जाति पर मदिरापान बड़ा भारी कलंक लगाता है। उनमें अनेक महानुभाव अब इसका घोर विरोध कर रहे हैं। उनमें से केन साहेब जो पार्लमेंट के मेंबर थे और कलकत्ते की चौथी कानफरेंस में शरीक हुए थे चिरस्मरणीय रहेंगे। उन्होंने मदिरा प्रचार का विलायत में घोर विरोध किया था। इसके निमित्त उन्होंने एक सभा स्थापित की थी जो अब तक चली जा रही है। इस सभा की ओर से भारत में समय समय पर अनेक महानुभाव आते जाते रहते हैं जो प्रयत्न करते हैं कि सरकार भी इस बुराई को दूर करे। इस प्रकार की सभाएँ भारतवर्ष में भी हैं। इनमें से अमृतसर की सभा इस समय बड़ा काम कर रही है।

अमेरिका के लोगों ने अब बिलकुल शराब पीना छोड़ दिया है। वहाँ इस विषय का कानून बन गया है। पुसीफुट जानसन जिनके उद्योग से वहाँ यह सुधार हुआ है, १८२१ में भारतवर्ष में आए थे। हमारे देश में इस समय कांगरेस के स्वयंसेवक

शराब की दूकानों पर पहरा देकर जो आंदोलन कर रहे हैं यह इस विषय पर जाग्रति का नया रूप है।

गांजा, भांग, चरस हमारे देश में बहुत से लोग पीते हैं। अफीम खानेवालों की भी बड़ी संख्या है। थोड़े दिनों से कोकेन का प्रचार हो चला है। भांग तो भले आदमी भी पीना बुरा नहीं समझते। त्योहारों पर, शादियों में और कहीं कहीं प्रति दिन भांग पी जाती है। किसी किसी नगर में घिसी पिसाई भांग दूकानों पर मिलती है। छोटे छोटे बच्चों को चीनी, दूध, कसेरु आदि मिला कर भांग पिलाई जाती है। इस तरह उनका दिमाग खराब कर दिया जाता और चरित्र बिगाड़ा जाता है।

तंबाकू तो इस देश में था ही अब चुरुट चलने से लोग गली गली इसे पीते फिरते हैं। स्कूल के बच्चे भी चुरुट पीते हुए मिलते हैं। अनेक सभ्य देशों में राष्ट्र की ओर से ऐसे नियम हैं कि छोटी अवस्था के बालक नशे की वस्तु पाही नहीं सकते। सं० १९१८ से पंजाब में कानून से लड़कों को तम्बाकू पीना मना कर दिया गया है।

स्मरण रखने की बात है कि हमारे देश के अनेक मनुष्यरत्न जो पार्लामेंट के सभासद होते, जिन्होंने हाईकोर्ट की जजी को सुशोभित किया, जो बड़े लाट की कौंसिल में सच्ची देशसेवा करते, नशे की बुराई में पड़ कर रोगग्रस्त और निरुद्यमी हो कर मरे।

रानड़े ने कभी भी किसी मादक वस्तु का प्रयोग नहीं

किया। अनेक सुधारक कहलानेवाले लोगों को इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए।

स्त्रियों में पर्दा।

इस देश के किसी भाग में पर्दा है और किसी में नहीं। एक ही स्थान की किसी जाति में पर्दा है और किसी में नहीं। कहीं स्त्रियों का सिर नंगा कर के बाहर जाना बुरा नहीं समझा जाता, कहीं उनका पैर भी दिख जाना बुरा माना जाता है। बहुत से परिवार गरीबी दशा में परदा नहीं करते परंतु धनाढ्य होने पर या लड़की के अमीर घराने में ब्याहे जाने पर परदा शुरु कर देते हैं।

अनेक परिवारों में नौकरों से परदा नहीं किया जाता परंतु घरवालों अथवा शुभचिंतक मित्रों के सामने स्त्रियाँ नहीं होतीं। मेलों में, मंदिरों में, और घाटों पर परदा नहीं और पड़ोसियों से परदा। कहीं स्त्रियां बिलकुल सामने नहीं होतीं, कहीं केवल घूँघुट काढ़ कर सामने से निकल जाती हैं।

परदे के कारण शिक्षा रुकी हुई है और स्त्रियों का स्वास्थ्य नहीं सुधरता। डाक्टर आर्थर लैंकेस्टर की सम्मति है कि पर्दा करनेवाली स्त्रियों में पर्दा न करनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा क्षयी रोग से दूनी अथवा तिगुनी मृत्यु होती है। एक ओर तो हमारी स्त्रियाँ बाल्यावस्था ही में माताएँ हो जाती हैं दूसरी ओर उनको और नवजात बच्चों को शुद्ध वायु भी नहीं मिलती। इन

कारणों से क्षयी रोग की वे शिकार बन जाती हैं। परदे के सबब से उनमें अपनी रक्षा करने का भाव नहीं उत्पन्न होता और वे यात्रा आदि में सदा निराश्रय और पराधीन बनी रहती हैं। स्त्रियों में परदे की प्रथा के कारण मर्दों में धार्मिक भाव उत्पन्न नहीं होता, जिन देशों अथवा प्रांतों में परदा नहीं है वहां के मर्दों का ध्यान राह चलती स्त्रियों की तरफ नहीं जाता। यह अनुभव स्वयं परदा करनेवाली स्त्रियों का है।

इस विषय पर कानफरेंस में स्वयं स्त्रियों ने अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिए हैं। बहुत से लोग कहते हैं कि पहले स्त्रियों में शिक्षा प्रचार कर लेना चाहिए तब परदा तोड़ना चाहिए। यह उलटी बात है। शिक्षा प्रचार उस समय तक पूरी तरह से हो ही नहीं सकता जब तक परदा न टूटेगा। परदा शिक्षा प्रचार में बहुत बड़ा बाधक है। जिन जातियों में परदा कम है उनमें शिक्षित स्त्रियों की संख्या अधिक है। परदा तोड़ने के कई उपाय हैं। परदा न करनेवाली शिक्षित स्त्रियों से मिलना जुलना; ससुर, जेठ आदि के सामने परदा न करना; पिता और पति के शुभचिंतक कुटुंबी मित्रों के सामने जाना; ऐसी सभाओं में जाना जिनमें स्त्रियाँ जाती हों इत्यादि। इसी प्रकार धीरे धीरे परदा कम हो सकता है।

ज्यों ज्यों देशहितकर कामों में स्त्रियाँ योग देती जाँयगी परदा कम होता जायगा। प्रदर्शनियों, तीर्थस्थानों और पर्वतस्थ नगरों (शिमला, मसूरी आदि) में बड़ा पर्दा करनेवाले

कुटुंब के लोग भी पर्दा छोड़ देते हैं। कानफरेंस के दर्शकों में स्त्रियों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जाती है। महिला परिषद् ने परदा तोड़ने में सहायता की है। स्त्रियाँ अपने स्वत्व और अधिकारों के लिए स्वयं खड़ी हो गई हैं और म्यूनिसिपैलिटियों और कौंसिलों में मर्दों के साथ देश-सेवा में हिस्सा लेना चाहती हैं। स्वयंसेविकाएँ मेलों और मंदिरों में जनता की सेवा करती हुई दिखलाई देती हैं। मुसलमानों में भी परदे का विरोध आगाखाँ आदि नेता लोग करने लग गए हैं। अब तो अनेक मुसलमान स्त्रियाँ व्याख्यान भी देती हैं।

जाति पाँति।

कानफरेंस में इसके संबंध में अनेक रूप में प्रस्ताव उपस्थित होते आए हैं। जिस बात पर अधिक जोर दिया जाता है वह यह है कि भिन्न भिन्न जातियों में जो उप-जातियाँ बन गई हैं उनको मिल जाना चाहिए। मुख्य चार जातियों के अंतर्गत की अवांतर जातियाँ एक हो जानी चाहिएँ। ब्राह्मण ब्राह्मण में भोजन और विवाह होना चाहिए, यही बात अन्य जातियों में भी होनी चाहिए। वर्त्तमान अवस्था यह है कि ब्राह्मण और अन्य जातियाँ अनेक उप-जातियों में विभाजित हैं। फिर प्रत्येक उप-जाति में विशेष उपजातियाँ हैं और सब अपने को बड़ा समझती हैं। न केवल एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण के घर विवाह नहीं कर सकता बल्कि एक सारस्वत ब्राह्मण दूसरे सारस्वत ब्राह्मण के घर भी विवाह नहीं कर सकता। यही हाल औरों

का है। विवाह की सीमा इतनी परिमित है कि निकटस्थ रिश्तेदारों में भी विवाह होने लग गए हैं। यह प्रथा जातीय वृद्धि के सिद्धांतों के विपरीत है। परंतु इस संबंध में बड़ी कठिनाई यह है कि यदि एक उप-जाति के मर्द का विवाह दूसरी उप-जाति की स्त्री से हो जाय तो उनकी औलाद कानून से पैतृक संपत्ति नहीं पा सकती। क्योंकि यह विवाह कानून की दृष्टि में अनुचित समझा जायगा। इसी कारण ब्राह्म-समाजियों और सिक्खों ने अपने विवाह का कानून ही बदलवा दिया है। इस समय यदि कोई मर्द दूसरी जाति की स्त्री से विवाह करना चाहे तो दोनों को यह कह कर विवाह करना पड़ेगा कि हम हिंदू नहीं हैं। इस प्रकार वह हिंदू जाति जिसके प्राचीन इतिहास में विवाह संबंधी स्वतंत्रता के अनेक उदाहरण मिलते हैं उन्नत लोगों को बाध्य करती है कि वे अपने को हिंदुओं के दल से बाहर कह कर विवाह करें। भिन्न भिन्न धर्मों के माननेवालों में विवाह का उदाहरण अब भी मिलता है। वैश्यों में जैनियों और हिंदुओं में विवाह होता है। श्री० भूपेंद्रनाथ बसू ने १९१२ में बड़े लाट की कौंसिल में यह प्रस्ताव पेश किया था कि माता पिता के विवाह की स्वतंत्रता के कारण औलाद को पैत्रिक संपत्ति प्राप्त करने में बाधा नहीं होनी चाहिए। इस प्रस्ताव पर एक ओर घोर विरोध हुआ तो दूसरी ओर ऐसे ऐसे लोगों ने इसके सिद्धांत और इसकी आवश्यकता को स्वीकार किया कि जिनके धार्मिक विचार शुद्ध हिंदू थे। परंतु

यह कानून पास नहीं हुआ। इसके अनंतर महाशय पटेल ने हिंदू मात्र में परस्पर विवाह करने के संबंध में कानून उपस्थित किया पर वह भी रह गया। फिर डाक्टर गौड़ ने विवाह संबंधी स्वतंत्रता पर एक नया प्रस्ताव उपस्थित किया। वह भी १६२२ के आरंभ की कौंसिल की बैठक में अस्वीकार हुआ।

जाति के कारण लोग एक दूसरे का पका हुआ भोजन नहीं कर सकते। सबसे उत्तम वही समझा जाता है जो अपनी पकाई रोटी खाय। ब्राह्मण ब्राह्मण आपस में नहीं खा सकते। शूद्र कहलानेवालों में भी कई ऐसे हैं जो ब्राह्मण के हाथ का पका भी नहीं खाते। भोजन में कच्ची और पक्की का भेद माना जाता है। बहुत से लोग हलवाई के यहाँ से पूरी खा लेंगे परंतु रोटी अपनी बिरादरीवाले के ही हाथ की खाँयगे। परंतु इस संबंध में भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न रिवाज हैं। पंजाब में कच्ची पक्की का भेद नहीं माना जाता। प्रायः लोग हिंदू मात्र का छुआ हुआ खाते हैं, एक घर की पकी रोटी दूसरे घर ले जाकर खा सकते हैं। उत्तरीय भारत के पश्चिमी जिलों में अक्सर एक ही फर्श पर मुसलमानादि के बैठे रहने पर हिंदू लोग पानी पी लेना बुरा नहीं समझते, कई नगरों में दूकानों पर दाल रोटी बिकती है। ये सब बातें रिवाज की है। १८५७ के विप्लव से पूर्व दिल्ली में हिंदुओं के घर में भी मुसलमान मश्क से पानी देते थे, केवल बरतनों को नहीं छूते थे।

छूत छात माननेवालों को यात्रा में सदैव कष्ट होता है।

ताजा खाना नहीं मिलता। पूरियाँ खानेवाले लोग बीमार पड़ जाते हैं। इसी कारण उनमें देश देशांतर जाने का हौसला कम होता है। भिन्न भिन्न जातियों के रिवाज में भिन्नता है। इस संबंध में रेल द्वारा बड़ा परिवर्तन हुआ है। अब शिक्षित समाज में बहुधा एक दूसरे के साथ बैठ कर खाना बुरा नहीं समझा जाता। सोशल-कानफरेंस में इस विषय पर बराबर प्रस्ताव पास होते रहे हैं। कई वर्षों तक कानफरेंस के साथ एक भोज होता था जिसमें भिन्न भिन्न जाति के हिंदू एक साथ बैठ कर खाते थे। बंबई में इस बात पर बड़ा जोर दिया जाता है। उन भोजों में शरीक होने के कारण बहुत से लोग शुरू में अजाति किए गए थे। हर्ष का विषय है कि उच्च श्रेणी के सुधारकों में निरामिष भोजियो की संख्या बढ़ रही है। कानफरेंस के साथ जो भोज होते हैं उनमें मांसादि नहीं रहता।

इस संबंध में कायस्थों का उद्योग प्रशंसनीय है। बंगाली और संयुक्त प्रांतादि के कायस्थ आपस में कानफरेंस के समय मिलते हैं, उनमें सहभोज भी शुरू हो गया है। उपजातियों में विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं।

रानडे एक ही कमरे में अंग्रेजों और ईसाइयों के साथ खाना बुरा नहीं समझते थे। केवल उनसे दूर बैठते थे। रमाबाई के लेख से मालूम होता है कि १८९२ में जब वे पूना के पंचहौद मिशन में शरीक होने के कारण जाति से बाहर किए

गए थे, जिसका उल्लेख आगे आयगा, तब उन्होंने चाय नहीं पी थी। कचहरी में भी उनका भोजन ब्राह्मण लेकर जाता था। इसके आगे वे नहीं बढ़े थे। गोखले सब जाति के भारत-वासियों और अन्य देश के लोगों के साथ निरामिष भोजन करते थे। मद्रास में सहभोज की प्रणाली बढ़ती जाती है। जिस जाति में छूत छात के बंधन अधिक हैं उसमें चोरी से सहभोज करनेवालों की संख्या अधिक है परंतु पंजाब आदि प्रांतों में ऐसे लोग हैं ही नहीं। इस सुधार के संबंध में यह लिख देना आवश्यक है कि वे लोग सुधारक कहे जाने के योग्य नहीं हैं जो जूठा खा कर या मांस मदिरा आदि का प्रयोग करके अपने को सुधारक समझते हैं। उन्होंने सुधार के तत्व को नहीं समझा और उनके कर्तव्य अत्यंत निंदनीय हैं। उनसे भी बुरे वे लोग हैं जो छिप कर सबके साथ सब पदार्थ खाते हैं और अपने को सुधारक और शिक्षित लोगों में अग्रगण्य समझते हैं। ऐसे लोगों की करतूत मालूम होने पर भी उनके घर ब्राह्मण लोग भोजन करते हैं और बिरादरी उनको अजाति नहीं करती परंतु जो लोग सचाई को नहीं छोड़ते वे तुरंत अलग कर दिए जाते हैं।

हिंदुओं की अनेक जातियों में अब स्वाभिमान बढ़ रहा है। कायस्थ क्षत्री होने के, भूमिहार ब्राह्मण होने के शास्त्रोक्त और ऐतिहासिक प्रमाण देते हैं। इसी प्रकार कुनबी, तेली आदि जातियों में नवजीवन का संचार हो रहा है। और क्यों न हो?

इनके विचारों की पुष्टि शास्त्र के प्रमाण और पंडितों की व्यवस्था से भी हो जाती है।

सेवासमितियों द्वारा सेवा भाव में संकीर्णता कम हो गई है। पहले एक जाति का मुर्दा दूसरी जाति के लोग नहीं उठाते थे और महामारी आदि के समय में भी ब्राह्मण क्षत्री नीच जाति के रोगियों की दूर ही से सेवा करते थे। इसमें अब आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। जिसकी आत्मा दुःखी है उसकी जाति अब नहीं पूछी जाती। सब लोग प्रेम से उसकी सेवा के लिए अपना हाथ बढ़ाते हैं।

इस प्रकार समाज संशोधन देश की पृथक् पृथक् जातियों को प्रेम और स्नेह के तंतु से बांध कर एकता का कारण बन रहा है। अब तक जाति के बंधन अनेक सुधारों में बाधा डालते चले आए हैं। इन्हीं के कारण अछूत जाति का सुधार रुका है, समुद्रयात्रा में कठिनाइयाँ पड़ती हैं, विवाहादि में सुयोग्य वर कन्या नहीं मिलते, विधवाओं की अवस्था नहीं सुधरती; निर्भय, स्पष्टवक्ता और स्वतंत्र लोग नहीं उत्पन्न होते और हिंदू जाति से फूट नहीं हटती।

जाति का सुधार सब सुधारों की जड़ है। मनुष्य समाज को चार वर्णों में विभाजित करना स्वाभाविक और प्राचीन है और यही आदर्श भी होना चाहिए। इससे छोटे विभाग समय समय पर भौगोलिक, ऐतिहासिक आदि कारणों से किए गए थे जिनकी अब आवश्यकता नहीं है।

कानफरेंस की फुटकर बातें।

इन विषयों के अतिरिक्त कानफरेंस में अन्य विषयों पर भी विचार होता आया है जिनका उल्लेख मात्र कर देना पर्याप्त है।

१—दान का सुधार। इस संबंध में कई बेर कानून बनाने के प्रस्ताव पेश हुए। डाक्टर रासबिहारी घोष ने इसके लिये कौंसिल में उद्योग किया था पर सफलता नहीं हुई। मठ, मंदिर धर्मशाला, अन्नसत्र आदि सर्व साधारण के लिये हैं। उनका प्रबंध उस धर्म के माननेवालों के प्रतिनिधियों की कमेटियों द्वारा किए जाने से जिनके लिए वे बने हैं, दान की प्रणाली के सुधर जाने की पूर्ण आशा है।

२—बुड्ढों का छोटी बालिकाओं से विवाह।

३—बहु विवाह। यह बंगाल में पहले बहुत था। एक कुलीन ब्राह्मण की सौ तक स्त्रियाँ हो सकती थीं। अब यह बुराई कम है। परंतु इसके विरुद्ध कोई कानून नहीं है। अमेरिका, दक्षिणी अफ्रिका आदि स्थानों में हिंदुस्तानियों के साथ अन्य बातों के अतिरिक्त, यह दोष लगा कर बुरा बर्ताव होता है कि इनमें बहु विवाह का रिवाज है।

४—विवाहादि संस्कारों में अपव्यय।

५—स्त्रियों में सियापे का रवाज।

६—हिंदू मुसलमानों के झगड़े दूर करने के उपाय।

७—अनाथों की रक्षा के उपाय।

८—स्कूलों में धार्मिक और चरित्र सुधार संबंधी शिक्षा की आवश्यकता।

९—विवाह में दहेज लेने की रसम।

१०—मद्रास की आठवीं कानफरेंस में एक प्रस्ताव इस विषय पर पास हुआ था कि देशसेवा करनेवालों का प्राइवेट जीवन शुद्ध और पवित्र होना चाहिए, विशेष कर समाज सुधार चाहनेवाली सभाओं के सदस्यों का।

११—हिंदू पंचांगों के संशोधन की आवश्यकता।

अनेक अधिवेशनों में इस विषय पर विचार किया गया था कि कानफरेंस के चलाने और उन्नति के लिये एक कोष होना चाहिए। रानडे की मृत्यु के उपरांत १६०२ में अहमदाबाद के सोलहवें अधिवेशन में रानडे का स्मारक स्वरूप समाज-संशोधन संबंधी कोष स्थापित करना निश्चय हुआ था। उस वर्ष की रिपोर्ट में इस कोष में दान देनेवालों के नाम भी छपे हैं जिनमें ६ आदमियों ने १५००), चार ने एक हजार और तीन ने छोटी छोटी रकमे दी थीं। परंतु इस कोष संबंधी समाचार आगे की रिपोर्टों से नहीं लगता।

कानफरेंस में पहले व्याख्यान प्रायः अँग्रेजी में हुआ करते थे परंतु अब अधिकांश वक्ता प्रांतिक भाषाओं में वक्तृता देते हैं।

रानडे का यह नियम था कि कानफरेंस के प्रत्येक अधिवेशन के पहले समाज सुधार संबंधी जितनी सभा, और समाज भिन्न भिन्न प्रांतों में थीं उनका संक्षिप्त कार्यविवरण मँगवा कर

उसको कानफरेंस की रिपोर्ट में छपवा देते थे। उनके समय में प्रत्येक प्रांत के कानफरेंस का एक प्रांतिक मंत्री भी चुना जाता था। उन मंत्रियों द्वारा विरादरियों के सम्मेलन के विवरण, विधवा विवाहादि के उदाहरण, कन्या पाठशालाओं की संख्या आदि की सूचना मिलती रहती थी। ये सब कानफरेंस की रिपोर्ट के बहुमूल्य अंग थे। उनके पढ़ने से समस्त देश की सामाजिक जाग्रति का परिचय मिलता था। छोटी छोटी घटनाओं को भी प्रकाशित करना रानडे आवश्यक समझते थे। ऐसा करने से कार्यकर्ताओं का उत्साह भी बढ़ता था।

कानफरेंस में अब शिथिलता आ गई है पर उसके सिद्धांत अब सर्वमान हो रहे हैं "राजनैतिक क्षेत्र में भी अब सामाजिक काम होने लग गया है।"

महिला परिषद्

१९०४ से जब बंबई में १८ वीं कानफरेंस हुई थी महिला परिषद् स्थापित हुई। इसमें प्रधान का आसन रमाबाई रानडे ने ग्रहण किया था। १९०५ में काशी में प्रतापगढ़ की रानी रामप्रिया ने और १९०६ में कलकत्ते में महारानी बड़ोदा ने प्रधान का आसन ग्रहण किया था। जिस प्रकार कानफरेंस में समाज संशोधन सबंधी विषयों पर विचार होता है उसी प्रकार इसमें स्त्रियों के सुधार संबंधी विषयों पर व्याख्यान होते हैं। इसमें केवल स्त्रियाँ ही शरीक होती हैं। इसके अधिवेशन अब बड़े समारोह से होते हैं और प्रत्येक प्रांत से विदुषी स्त्रियां इसमें

आकर शरीक होती हैं। पहले मर्द लोग अकेले कांग्रेस और कानफरेंस में जाया करते थे। अब वे अपने घर की महिलाओं को भी साथ ले जाते हैं। इसके कारण स्त्री समाज में विशेष प्रकार से जाग्रति हुई है।

महिला परिषद् को कानफरेंस की शाखा समझना चाहिए। खेद का विषय है कि किसी किसी वर्ष इसका अधिवेशन नहीं किया जाता परंतु स्त्रियों में जाग्रति के लक्षण चारों ओर दिखलाई दे रहे हैं।

कानफरेंस में रानडे के व्याख्यान और उनके विचार।

रानडे प्रत्येक कानफरेंस में बराबर व्याख्यान देते थे। पहले कई वर्ष के अधिवेशनों में वे किसी विषय पर प्रस्ताव उपस्थित करते समय कुछ कह दिया करते थे परंतु पीछे से उन्होंने लंबे प्रारंभिक व्याख्यान देने आरंभ कर दिए थे। ये बड़े विचारपूर्ण, विचार-उत्तेजक और सामयिक होते थे, जैसा कि निम्नलिखित विषय सूची से प्रतीत होगा।

ग्यारहवीं कानफरेंस (अमरावती), "पुनरुज्जीवन और सुधार"

बारहवीं कानफरेंस (मद्रास), "एक शताब्दी पूर्व दक्षिणी भारत"

तेरहवीं कानफरेंस (लखनऊ), "भारत एक सहस्र वर्ष

पूर्व" इसी व्याख्यान का दूसरा शीर्षक "न मैं हिंदू हूँ न मुसलमान"

चौदहवीं कानफरेंस (लाहोर) "वसिष्ठ और विश्वामित्र"।

इन व्याख्यानों के अतिरिक्त सोशल कानफरेंस के उद्देश्यों पर उन्होंने जो व्याख्यान प्रयाग के दूसरे अधिवेशन में दिया था बड़े महत्व का है। इसी विषय पर नागपुर में पाँचवें अधिवेशन के समय भी वे बोले थे।

प्रयाग के छठे अधिवेशन में "सामाजिक विकास" लाहोर के सतावें अधिवेशन में "सामाजिक उन्नति की सच्ची कसौटी" और अन्य अधिवेशनों में उस वर्ष के सुधार के इतिहास अथवा सुधार के प्राचीन इतिहास संबंधी व्याख्यान, पढ़ने और मनन करने योग्य हैं।

कानफरेंस के उद्देश्यों के संबंध में उनका विचार यह था कि यह किसी प्रकार की कार्यकर्तृ संस्था नहीं है। इसका उद्देश्य केवल सुधार संबंधी जाग्रति पैदा करना है। वे कहते थे कि जिस प्रांत में कानफरेंस होती है वहाँ के लोग सुधार संबंधी पिषयों पर सोचने लगते हैं। उनमें से जिनमें देशसेवा का भाव अधिक रहता है वे कोई संस्था खोल कर या अपने कर्तव्यों द्वारा सब प्रकार के सुधार अथवा किसी विशेष सुधार की चरचा फैलाने लगते हैं। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कानफरेंस—आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, देव

समाज, सनातन धर्म सभाओं और अन्य संस्थाओं से सहायता लेने में संकोच नहीं करती। इन संस्थाओं के धार्मिक सिद्धांतों से कानफरेंस से कोई संबंध नहीं। रानडे की सफलता का कारण यही था कि उन्होंने सामाजिक सुधार को धर्म अथवा मतमतांतर से अलग रखा। रानडे का विश्वास था कि सुधार अवश्य होगा। शिक्षा प्रचार, वर्तमान समय की अवस्था और अन्य कारणों से अब सुधार रुक नहीं सकता। अंग्रेजी राज्य को वह सुधार का सहायक समझते थे। वे बहुधा कहा करते थे कि अंग्रेज न केवल हमारे राजा हैं बल्कि हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। सरकारी कानून की सहायता से कुरीतियों को दूर करने के वे पक्षपाती थे। इस विषय उर उनका एक लेख "State Legislation in social matters" बड़े महत्व का है। उनका मत था कि राजनैतिक कारणों से हमारे देश ने अनेक कुरीतियों को ग्रहण किया। फिर उन्हीं कारणों को सुधार का साधन बनाने में क्या हर्ज है। अंग्रेज राज्य के आरंभ काल के शासक भारत की सामाजिक उन्नति में पूरी सहायता देते थे। सती की चाल कानून द्वारा दूर की गई, विधवा-विवाह के संबंध में कानून बना, भिन्न भिन्न जाति के लोगों में जो मतमतांतर के बंधन से रहित हैं विवाह करने के लिये कानून बना। संभोग सम्मति के कानून के बाद सरकार ने कोई सामाजिक सुधार का कानून नहीं बनाया। जब कभी कोई कानून कौंसिल में पेश भी हुआ सरकारी सभासदों की बहु सम्मति से वह पास नहीं

हुआ। इसके विपरीत देशी रियासतों में बाल-विवाहादि के विरुद्ध कानून बनते जाते हैं।

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि सुधार अच्छा अथवा पुनरुज्जीवन। इस विषय पर रानडे ने अपने अमरावती के व्याख्यान में अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित ओजपूर्ण वाक्य कहे थे—

"हम किन रीतियों को पुनर्जीवित करें? क्या हम अपने उस समय के पुरुषाओं की चाल को पुनरुज्जीवित करेंगे ज़ब हम लोगों की सब से पवित्र जाति ने मांस और मदिरा के व्यसनों में पड़ कर देश के किसी प्रकार के जीव और वनस्पति को नहीं छोड़ा था, जिसको हम लोग आज कल बुरा समझते हैं? उस समय के मनुष्य और देवता इस प्रकार निषिद्ध वस्तुओं को खाते पीते थे कि कोई भी प्राचीन बातों को पुनरुज्जीवित करनेवाला इस समय उनके प्रचार की व्यवस्था देने का साहस न करेगा। क्या हम पुत्रों के बारह और विवाह के आठ प्रकारों को जिनमें से असुर और गांधर्व विवाह भी हैं पुनरुज्जीवित करेंगे? क्या हम विधवा भौजाई से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रथा को पुनरुज्जिवित करेंगे? क्या हम ऋषियों और ऋषीपत्नियों के वैवाहिक जीवन की स्वतंत्रता को पुनरुज्जीवित करेंगे? क्या हम उन यज्ञों को जो वर्ष प्रति वर्ष हुआ करते थे और जिनमें देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, पशुओं की बात ही क्या, नरबली तब हुआ करती थी पुनरुज्जीवित करेंगे? क्या हम वाम मार्ग के अश्लील और कुकर्म-मय शक्ति-

धूजन को पुनरुज्जीवित करेंगे? क्या हम सती, बच्चों के मार डालने, जीवित मनुष्यों को नदियों में या चट्टानों पर फेंक देने, या चरक या श्रीजगन्नाथ के रथ के नीचे दबने की प्रथाओं को पुनरुज्जीवित करेंगे? क्या हम ब्राह्मणों और क्षत्रियों के आंतरिक झगड़ों को अथवा दस्युओं के साथ निर्दय व्यवहार और उनको पद-दलित करना फिर से जारी करेंगे? क्या हम बहु-पत्नी और बहु-पति की प्रथा को फिर से चलाएँगे? क्या हम ब्राह्मणों को जमींदार और धनिक बनने से रोकेंगे और प्राचीन समय की नाईं उनको भिखारी और राजाश्रित बना देंगे? इन उदाहरणों से भली भाँति मालूम हो जायगा कि प्राचीन रीति और रसमों के पुनरुज्जीवित करने से देश की मुक्ति नहीं होगी और न यह कार्यक्रम में लाया जा सकता है"।

रानडे के इन वाक्यों से बहुधा लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि वे नवीन अंग्रेजी ख्यालों के भारतवासी थे जो प्राचीन बातों को बुरा समझते हैं। परंतु यह भ्रम मात्र है। वे सच्चे प्राचीनाभिमानी थे। "प्राचीन" शब्द के अंतर्गत वे सौ दो सौ वर्ष पहले की अवस्था को नहीं मानते थे। वे कहते थे कि बिगड़ी अवस्था को सुधारना आवश्यक है। केवल पुनरुज्जीवन से काम नहीं चलेगा। समाज जीवधारियों का समूह है। वह एक स्थान पर सदा नहीं रह सकता। सुधारकों में दो दल के लोग हैं। एक कहते हैं कि जो कुछ शास्त्रों के अनुसार हो वही ठीक सुधार है। यह जातीयता की नींव पर सुधार का गृह

निर्माण करना चाहते हैं। दूसरे यह चाहते हैं कि जो कुछ युक्तियुक्त हो वही ग्राह्य है अन्यथा सब व्यर्थ और अनावश्यक है। परंतु इन दोनों दलों की विभिन्नता निर्मूल है। शास्त्र भी युक्ति पर निर्भर हैं। यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में जिसको परस्पर विरोध कहते हैं, न होता। समयानुसार ऋषिगण सिद्धांतों में आवश्यक परिवर्तन किया करते थे। इसलिये शास्त्रों के प्रति भारतजनता में जो श्रद्धा मौजूद है उसको सुधार का सहायक बनाना चाहिए। शास्त्र के भरोसे सुधार से प्रीति करनेवालों में दृढ़ता और साहस के उदाहरण अधिक मिलते हैं। अंग्रेजी ढंग के सुधारक केवल पोशाक और रहन सहन बदलने मात्र को पर्याप्त समझते हैं। रानडे के सुधार संबंधी विचारों का गौरव निम्नलिखित पंक्तियों से जो भिन्न भिन्न व्याख्यानों से उद्धृत की गई हैं प्रगट हो जायगा—

(१) "इस महान देश का इतिहास केवल परियों की कथा मात्र है यदि इस से इस बात का प्रमाण न मिले कि बाहर के प्रत्येक आक्रमण ने यहां की ईश्वर-रक्षित जाति में तपस्या और तप का काम किया जिससे वह धीरे धीरे उच्च आदर्श की ओर उन्नत हुई। यह आदर्श कर्तव्य रूप में प्रगट नहीं हुआ परंतु छिपी हुई शक्तियों के विकास में। जाति में कभी ऐसी उत्साह-हीनता उत्पन्न नहीं हुई कि वह सब शुभ आशाओं को तिलांजलि दे दे। थोड़े दिनों के लिये विदेशी आक्रमणों के प्रभाव में डूब कर वह फिर अपना सिर ऊँचा कर लेती और

विदेशी सभ्यता, धर्म और नीति से जो कुछ अति उत्तम होता उसको स्वीकार कर लेती।" (१८९२ का व्याख्यान)

(२) "इस आंतरिक स्वतंत्रता में हमें क्या करना है। मैं उत्तर दूंगा कि जिस विकास की हम मनोकामना कर रहे हैं वह परिवर्तन है, बंधन से स्वतंत्रता में—वह बंधन जिसे हमारे दुर्बल स्वभाव ने हमारी उच्च शक्तियों की स्वतंत्रता पर डाला है। यह परिवर्तन मिथ्या विश्वास से भक्ति की ओर है--मिथ्या विश्वास से जो विना सोचे बात मान लेता है, भक्ति की ओर जो प्रबल नीव पर भवन बनाती है। जीवन में हमारी स्थिति, हमारा धर्म और हमारे कर्मों की सीमा निःसंदेह बहुत कुछ उस अवस्था पर निर्भर है जिस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है तिस पर भी हमारे कार्यों में स्वतंत्रता की मात्रा बहुत है। हम जान बूझ कर इस मात्रा को घटा देते हैं, अपने को हथकड़ियों से बाँध देते हैं और उस पर घमंड करते हैं, जिस प्रकार बंबई का वह मुसलमान फकीर जो भारी जंजीरों से अपने को बाँध कर समझता है कि मैं पहुँचा हुआ फकीर हूँ। जिस प्रकार के परिवर्तन की हमें इच्छा करनी चाहिए वह बंधन से स्वतंत्रता, मिथ्या विश्वास से भक्ति, अचल अवस्था से उद्योग, विश्वास से मुक्ति, प्रशासित जीवन से संगठित जीवन, स्वमताग्रह से उदार विचार, भाग्य में अंध-विश्वास से मानुषीय गौरव के सद्भाव की ओर होना चाहिए। सामाजिक विकास का मैं

यही अर्थ लगाता हूँ और यह इस देश के व्यक्तियों और संस्थाओं दोनों पर घटता है"। (१८६२ का व्याख्यान।)

(३) "प्राचीन काल से हम बिल्कुल अलग नहीं हो सकते। अपनी प्राचीनता के भाव से हमें दूर होना भी नहीं चाहिए क्योंकि यह बहुमूल्य संपत्ति है और इससे हमको लज्जित होने का कोई कारण भी नहीं है"। (१८६२ का व्याख्यान।)

(४) "मुझे अपने धर्म के दो नियमों में दृढ़ विश्वास है। यह हमारा देश भविष्य में सचमुच ही स्वर्ग होगा। यह हमारी जाति ईश्वर-रक्षित जाति है। परमेश्वर ने व्यर्थ इस प्राचीन आर्यावर्त देश पर अपने उपकारों की बौछार नहीं की है। हम भगवान के दर्शन अपने इतिहास के पृष्ठों में करते हैं। अन्य देशों से बढ़कर हमने ऐसी सभ्यता, ऐसा धर्म और ऐसी सामाजिक नीति अपने पुरुषाओं से पाई है जिन्होंने संसार के कार्य-क्षेत्र में वर्षों तक बे रोकटोक वृद्धि प्राप्त की। यहां कोई विप्लव नहीं हुए परंतु समयानुसार पुरानी अवस्था में धीरे धीरे सुधार होता रहा।" (१८९३ का व्याख्यान।)

(५) "बहुत से लोग समझते हैं कि इस जर्जरित हिंदू जाति से अलग ही होकर अपनी रक्षा करना परम कर्तव्य है। मैं इस विचार का विरोध ३० वर्ष से कर रहा हूँ और जब तक मुझमें जीवन है और जब तक मेरी भाषणशक्ति मुझे बोलने देगी मैं इसका विरोध करूँगा। हिंदू-समाज क्षीण और भ्रष्ट अवस्था में नहीं है। यह निःसंदेह नवीन बातों का विरोध करता

है परंतु यह अवगुण नहीं है वरंच गुण है। कोई जाति जो अपना मत, अपनी रीति, अपनी रहन सहन जिस प्रकार "फैशन" बदलता है बदलती रहती है, वह इतिहास में स्थान नहीं पा सकती। परंतु इस अवस्था ने नवीन विचारों के प्रादुर्भाव और नवीन रीतियों के प्रचार को कभी नहीं रोका।" (१८९२ का व्याख्यान।)

इन विचारों से भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि रानडे पुनरुज्जीवन के विपक्षी इस कारण न थे कि उनको भारत के प्राचीन इतिहास में विश्वास नहीं था। सच्चे सुधारक वे ही हैं जो नवीन अवस्था के अनुसार, जातीयता और समाज की अभिरुचि को दृष्टि में रखकर अपने जीवन द्वारा देश में उदाहरण बनते हैं। रानडे ऐसे ही महानुभाव थे। प्रौढ़ मस्तिष्क, पवित्र जीवन, नम्र स्वभाव, सूक्ष्म दृष्टि आदि गुणों का एक ही मनुष्य में मिलना विरले ही होता है। जिसमें ये गुण हों उसका जीवन धन्य है।

---

(९) रानडे के राजनैतिक विचार और उनका प्रभाव।

रानडे सरकारी नौकर थे। सरकारी नौकर राजनैतिक संस्थाओं में शरीक नहीं हो सकते और न ऐसे विषयों पर साधारणतः अपनी सम्मति दे सकते हैं। पर यह संभव नहीं

था कि रानडे ऐसा देशहितैषी, देश देशांतरों के इतिहास का जाननेवाला भारत की राजनैतिक अवस्था के सुधार के काम से दूर रहता। उनके समय में सरकारी नियम भी कठिन नहीं थे इसलिये सरकारी नौकर भी थोड़ा बहुत राजनैतिक कार्य करते थे। रानडे पूना सार्वजनिक सभा का सब काम करते थे। यह बात सरकार पर प्रकट भी थी।

भारत संबंधी समाचार जो उन दिनों विदेश भेजे जाते थे उनमें जातीयता की झलक नहीं आने पाती थी। कभी कभी तो ऐसी बातें फैलाई जाती थी जो सर्वथा हिंदुस्तान को राजनैतिक हानि पहुँचाने वाली थीं। जनवरी १८८५ में काशीनाथ त्रिंबक तैलंग ने प्रोफेसर वर्ड्‌जवर्थ के घर पर इस विषय पर विचार करने के लिए एक सभा की थी। उसमें दादाभाई, फिरोजशाह आदि नेताओं के साथ साथ रानडे भी उपस्थित थे और उसमें यह नियम हुआ था कि भारतवासियों की एक स्वतंत्र एजंसी स्थापित की जाय जिसके द्वारा तार समाचार प्रति सप्ताह विलायत भेजे जाया करें।

रानडे के राजनैतिक विचार प्रायः वेही थे जो कांगरेस के थे। कांगरेस की नींव डालनेवालों में उनका भी नाम गिना जाता है। कांगरेस के प्रथम अधिवेशन में वे शरीक भी हुए थे। यों तो वे प्रायः हर एक अधिवेशन में जाते थे और विषय निर्धारित करनेवाली समिति में अपनी सलाह भी दिया करते थे परंतु पहली कांगरेस के अतिरिक्त किसी में उन्होंने व्याख्यान नहीं दिया।

पहली कांग्रेस बंबई में सन १८८५ में हुई थी। उस समय बहुत से सरकारी नौकर उसमें उपस्थित हुए थे। दूसरे दिन (२६ दिसंबर) के अधिवेशन में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया था कि सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल तोड़ दी जाय। इस पर कई व्याख्यान हुए। कुछ मतभेद भी हुआ। अधिक लोग तोड़ने ही के पक्ष में थे। एक महाशय ने सलाह दी कि इस कौंसिल में जनता की ओर से सभासद चुना जाया करे। इसी विषय पर रानडे ने एक छोटी वक्तृता दी थी जिसका सारांश यह है।

"कांगरेस को चाहिए कि इस विषय पर एक स्कीम पेश करे। प्रस्ताव में मतभेद का उल्लेख होना पर्याप्त नहीं है। यदि सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल टूट जायगी तो उनको किसी न किसी प्रकार की सभा बनानी ही पड़ेगी, नहीं तो विलायत के सेना-विभाग और कोष-विभाग के सामने उनकी कुछ न चलेगी। टैक्स कम करने, अखबारों को स्वतंत्रता देने, सारे भारत में बंदोबस्त इस्तमरारी जारी करने, सेना के व्यय इत्यादि विषयों पर विचार करने में सेक्रेटरी आव स्टेट के सहायतार्थ एक सुगठित कौंसिल का होना आवश्यक है। उन्होंने फाक्स और पिट के इंडिया बिल्स का हवाला देकर कहा कि उचित यही होगा कि कांगरेस प्रस्ताव करे कि इस कौंसिल के कुछ सभासद चुने जाया करें और कुछ सरकार नियुक्त करे।"

तीसरे दिन (३० दिसंबर को) रानडे के विचारों का उत्तर

उनके प्रसिद्ध और परम भक्त शिष्य काशीनाथ त्रिंबक तैलंग ने दिया था और अंत में यही प्रस्ताव पास हुआ कि कौंसिल तोड़ दी जाय।

१८८५ में भारतवासियों की राजनैतिक अवस्था बिलायत के सर्वसाधारण पर विदित करने के लिये श्री मनमोहन घोष प्रभृति कुछ प्रसिद्ध भारतवासी विलायत गए थे। वहाँ वितरण करने के लिये कुछ छोटी पुस्तकें भी लिखी गई थीं, उनमें से "India's appeal to the English electors" नाम की पुस्तक का बहुत सा अंश रानडे का लिखा हुआ था।

१८९२ में श्री आनंद चारलू कांग्रेस के मंत्री थे। वे चाहते थे कि इस काम को छोड़ दें परंतु रानडे ने उनसे कहा कि मैं अगले वर्ष सरकारी नौकरी छोड़ कर कांग्रेस के मंत्री का काम करूँगा। एक वर्ष आप और निभा दीजिए। आनंद चारलू ने मान लिया पर दूसरे वर्ष रानडे हाईकोर्ट के जज बना दिए गए। फिर आगे चलकर पेंशन लेने की नौबत ही न आई।

कांगरेस की उत्पत्ति के पूर्व रानडे पूना सार्वजनिक सभा द्वारा वर्षों तक राजनैतिक कार्य कर चुके थे। कांगरेस में आकर उनको विशाल क्षेत्र मिलता। सच तो यह है कि ह्यूम साहब के बाद कांगरेस का अब तक दूसरा योग्य सेक्रेटरी नहीं हुआ।

१८९९ में बंबई में दादाभाई नौरोजी की मूर्ति रखी गई। इस उत्सव के रानडे सभापति बनाए गए थे। उस व्याख्यान में उन्होंने दादाभाई के उपकारों को मुक्तकंठ से स्वीकार किया।

उन्होंने कहा कि अंगरेजी राज्य स्थापित होने से लेकर अब तक के समय को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक समय तो युद्ध और विजयप्राप्ति का था और दूसरा राज्य को जमाने और सुधारने का। दूसरे काम में दादाभाई ऐसे देश-भक्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने व्याख्यान में भारत की दरिद्रता के संबंध में दादाभाई के विचारों का समर्थन किया और अपनी सम्मति दी कि दादाभाई के विचारों में कहीं भी लेशमात्र राज-विद्रोह नहीं है। उस समय लार्ड जार्ज हेमिल्टन सेक्रेटरी आव स्टेट थे जिनके विचारों से भारतवासी असंतुष्ट थे। रानडे ने इस व्याख्यान में लार्ड जार्ज हेमिल्टन का खंडन किया। उन्होंने यह भी कहा कि मैं दादाभाई का शिष्य हूँ, उनके चरणों में बैठकर मैंने शिक्षा पाई है। उस समय दादाभाई की प्रशंसा करना असाधारण हिम्मत की बात थी क्योंकि उनको सरकारी लोग राजविद्रोही समझते थे।

कांगरेस में जिन विषयों पर प्रस्ताव पास होते हैं उन पर पहले सबजेक्ट्स कमेटी में विचार होता है। इस कमेटी की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। १८८७ में मद्रास में कांगरेस हुई थी। उसमें उपस्थित विषय के विरुद्ध एक नवयुवक ने बड़ी कड़ी स्पीच दे डाली। सभापति रोकते ही रहे परंतु वह जवान बोलता ही गया और उसने एक प्रकार से कोलाहल मचा दिया। रानडे उपस्थित थे। उन्होंने नवयुवक का साथ दिया और सभापति को सलाह दी कि कांगरेस में आने से पूर्व प्रत्येक

विषय पर प्रतिनिधियों द्वारा विचार हो जाना चाहिए। तब से ऐसा ही होने लगा। अब जो कुछ मतभेद और कोलाहल-उत्पादक बातें होती हैं उसी सभा में ठंढी हो जाती हैं। रानडे और तिलक में अनेक बातों में मतभेद था पर तिलक राजनैतिक बातों में रानडे को सदा अग्रगण्य मानते रहे। कई वर्षों तक दोनों ने मिलकर सार्वजनिक सभा में काम किया था।

प्रिंसिपल रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे ने दिसंबर १८९५ की फर्ग्युसन कालेज मेगजीन में सर फीरोजशाह मेहता का जीवन-चरित लिखा है। उसमें वे लिखते हैं कि "सच तो यह है कि फीरोजशाह के अनेक व्याख्यान रानडे के विचार थे और फीरोजशाह के शब्द थे।"

इस प्रकार गर्म दल और नर्म दल के नेताओं को अपने वश में रखना रानडे का विशेष गुण था, यद्यपि ये दल वर्तमान काल की नाईं उस समय नहीं बने थे।

भारत की आर्थिक अवस्था पर विचार करने के लिये विलायत में वेल्बी कमिशन नाम की एक सभा बैठी थी। उसमें जाकर भारत के कई नेताओं ने अपने विचार प्रगट किए थे। उनमें से गोखले और सुरेंद्रनाथ बैनरजी के विचार रानडे की सम्मति से लिखे गए थे। एक बार रानडे के भी इसी संबंध में विलायत भेजे जाने की चर्चा उठी थी। परंतु सरकार ने इस प्रस्ताव को पसंद नहीं किया।

राजनैतिक विचारों के कारण रानडे को अनेक बार कष्ट

हुआ। उन पर सर्कार के उच्च अधिकारी संदेह की दृष्टि रखते थे। उस समय के गवर्नर उनको हाईकोर्ट की जजी भी देना नहीं चाहते थे परंतु उनकी योग्यता भारत में विख्यात हो चली थी इसलिये भारतीय सरकार ने उन्हीं को नियुक्त किया।

संदेह की दृष्टि से देखे जाने पर और कष्ट उठाने पर भी वे सदा यही कहते थे कि अंगरेजी राज्य परमेश्वर की देन है। वे इस विषय को इतिहासवेत्ता की दूर तक देखनेवाली दृष्टि से देखते थे। उनका विश्वास था कि जब मुसलमान शासक दुश्चरित्र हो गए और जब हिंदुओं में से सिक्ख और महाराष्ट्र कई बार कृतकार्य होकर भी आपस की फूट को दूर न कर सके तब आवश्यक था कि ऐसी जाति हमारे देश पर शासन करे जो देश के संकीर्ण भावों को विशाल कर दे, और बिखरी हुई शक्तियों को एक कर दे। परमेश्वर को मंजूर था कि भारत जीवित रहे इसी लिये अंगरेजों का राज्य इस देश में स्थापित हुआ। रानडे ने अनेक बार सरकारी शासन में दोष बतलाए; परंतु अंगरेज जाति के न्यायपरायण होने में उनको कभी भी संदेह नहीं हुआ, यहां तक कि जब सरकार उन पर राजविद्रोही होने का संदेह करती थी, जिसके कारण वे धुले बदले गए और उनकी चिट्ठियाँ खोल कर पढ़ ली जाती थीं तब भी उन्होंने अपने मुँह से एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। गोखले कहते थे कि एक दिन मुझसे उन से इस विषय पर बात चीत आई, उन्होंने कहा "ओह, वर्त्तमान अवस्था में ऐसी घटनाओं

का होना कोई आश्चर्य नहीं, हमें यह भी तो नहीं भूलना चाहिए कि उनके स्थान पर यदि हम लोग होते तो इससे बहुत ही अधिक खराबियाँ होतीं।"

रानडे के ये विचार वर्षों के अनुभव और इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन और मनन के अनंतर हुए थे। जवानी में उनके विचार बड़े गर्म थे। जब वे कालेज में पढ़ते थे उन्होंने एक निबंध लिखा था जिसमें महाराष्ट्र-राज्य की बड़ी प्रशंसा करते हुए अंगरेजी राज्य की बड़ी निंदा की थी। उनके अध्यापक सर एलेकजेंडर ग्रैंट ने जो एलफिंस्टन कालेज के प्रिंसिपल थे और जो रानडे की योग्यता के कारण उनसे बड़े प्रेम का व्यवहार करते थे उनको अपने पास बुलवा भेजा और उनकी भूल बतलाकर उनसे कहा "हे नव-युवक, तुमको उस सरकार की निंदा नहीं करनी चाहिए जो तुम्हें शिक्षा दे रही है और जो तुम लोगों के साथ इतनी भलाई कर रही है।"

प्रिंसिपल महोदय ने अपनी अप्रसन्नता प्रगट करने के लिये छः महीने तक रानडे की छात्रवृत्ति रोक ली थी। गोखले कहते हैं "इस घटना के कारण रानडे के चित्त में उनके लिये कभी भी किसी प्रकार दुर्भाव नहीं उत्पन्न हुआ; क्योंकि वे सदा अत्यंत श्रद्धा और प्रशंसा से उनका नाम लेते थे।" रानडे का यह विश्वास आयु पाकर बढ़ता जाता था कि अंगरेजी राज्य में भारतवर्ष भारतवासियों के उद्योग करने पर बड़ी उन्नति कर सकता है।

रानडे की मृत्यु के बाद कांगरेस का जो अधिवेशन १६०१ में कलकत्ते में हुआ था उसमें एक विशेष प्रस्ताव उनकी मृत्यु पर दुःख प्रकट करने के लिये पास किया गया था।

स्वागतकारिणी सभा के सभापति महाराज बहादुर नाटोर ने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए कहा "रानडे यद्यपि हमारे अंग नहीं थे परंतु सदा हमारे साथ थे।" उनके विचारों के प्रभाव के संबंध में उन्होंने कहा कि "राजा राममोहन राय के अनंतर भारत में कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ जिसने हमारी समस्त जातीय आवश्यकताओं पर एक समान विशाल दृष्टि डाली हो—राजनैतिक और आर्थिक ही नहीं समाजिक और धार्मिक आवश्यकता पर भी"।

इसी प्रकार सभापति दीनशा एदलजी वाचा ने नवीन शताब्दी के आरंभ होते ही ऐसे महापुरुष की मृत्यु से भारत की हानि दिखलाते हुए रानडे की समता प्रसिद्ध महात्मा सुकरात से की थी।

रानडे की मृत्यु के बाद आज भी उनके राजनैतिक विचारों की कदर की जाती है। गोखले महोदय ने कानून संबंधी कई प्रस्ताव पेश करते हुए रानडे के विचारों का उल्लेख किया है।

दक्षिणी अफ्रिका के भारतीय निवासियों की अवस्था के संबंध में जिस पर आज कल इतना आंदोलन हुआ है रानडे के विचार वे ही थे जो आज समस्त भारतवासियों के और भारतीय सरकार के हैं। उनके जीवित काल में भी एक बेर आंदो-

लन उठा था। स्वयं श्री गांधी जी को सं० १८६६ में भारतवर्ष आना पड़ा था, हिंदू यूनियन क्लब बंबई में उन्होंने बतलाया था कि नेटाल, केप कौलोनी और ट्रांसवाल में हिंदुस्तानी सड़क की पटरियों पर नहीं चलने पाते, रेल में अव्वल दर्जे में सफर नहीं कर सकते, होटलों में ठहरने नहीं पाते। रानडे से इस विषय पर गांधी जी बहुत पहले से पत्रव्यवहार कर रहे थे और वे उनकी सलाह पर चला करते थे। उस अवसर पर रानडे ने जो व्याख्यान दिया था उसको गोखले बड़ा उत्तम समझते थे। गोखले की सम्मति में उससे अच्छा व्याख्यान सुनने का अवसर उनको प्राप्त नहीं हुआ था। धारवार की सोशल कान-फरेंस में १६०३ में गोखले ने कहा था "रानडे ने (इस अवसर पर) अपने स्वभाववत् दक्षिणी अफ्रिका के भारतवासियों के उस संग्राम में जो वे मरदानगी के साथ कर रहे थे पूरी सहा-नुभूति प्रगट की। वे इस बात से प्रसन्न हुए कि विदेश में रहनेवाले भारतवासियों की स्थिति पर लोगों के चित्त में जाग्रति उत्पन्न हुई जिससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि निरुत्साही कहे जानेवाले हिंदुस्तानियों की मुर्दा हड्डियों में भी जान आ गई। परंतु आगे चल कर उन्होंने पूछा—

"क्या यह सहानुभूति केवल उन्हीं स्वदेशी भाइयों के साथ है जो भारत के बाहर रहते हैं? अथवा यह सबके साथ है और जहाँ जहाँ अन्याय और संकट है वहाँ वहाँ इस सहानुभूति का विस्तार होता है?" उन्होंने कहा "विदेशियों को बुरा कहना

सहल है परंतु न्याय यही है कि जो ऐसा करते हैं वे आत्म परीक्षा करें और जाँचें कि क्या वे इस संबंध में बिल्कुल निर्दोषी हैं।" इसके अनंतर उन्होंने बतलाया कि भारत के भिन्न भिन्न भागों में हमारी जाति के लोग नीच जाति वालों से कैसा वर्ताव करते हैं। इस वर्णन को सुन कर श्रोतागण को लज्जा आई और दुःख हुआ। रानडे ने तब पूछा, और यह पूछना ठीक भी था, कि क्या यह न्याययुक्त है कि वे लोग जो अपने देश में ऐसा लज्जास्पद क्लेश और अन्याय होने देते हैं दक्षिणी अफ्रिका के लोगों को बुरा कहें"। गोखले कहते हैं कि रानडे का यह स्वभाव था कि जब कभी देश में अशांति फैलती थी तो वे उसका कारण अपने ही पापों का फल बतलाया करते थे।

पूना सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में रानडे के राजनैतिक विषयों पर बहुत से लेख छपे थे। १८८४ में उन्होंने दो लेख "विलायत में भारतवर्षीय गवर्नमेंट" शीर्षक लिखे थे। उनमें आपने बतलाया था कि कंपनी के राज्यकाल में पार्लमिंट द्वारा भारतवर्षीय शासन की प्रति बीसवें वर्ष जाँच पड़ताल होती थी। १७७३ में रेगुलेटिंग एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल का नवीन पद कायम हुआ। उसकी सहायता के लिये कौंसिल के चार सभासद नियुक्त हुए और सुप्रीम कोर्ट नाम की कचहरी खोली गई। १७९३ में कंपनी के राज्य संबंधी कानून स्थिर किए गए। बीस वर्ष बीतने पर फिर जाँच की गई। इस बेर १८१३ में भारतवर्ष में वाणिज्य का अधिकार

केवल ईस्ट इंडिया कंपनी ही के हाथ में नहीं रक्खा गया वरंच अन्य कंपनियों को भी यह अधिकार दिया गया। सरकार का ध्यान भारतवर्ष की धार्मिक और राजनैतिक अवस्था के सुधार की ओर भी गया। पादरियों को धर्म और शिक्षा प्रचार की आज्ञा मिली। बीस वर्ष के अनंतर फिर पार्लामेंट द्वारा इस देश की अवस्था का अनुसंधान हुआ। १८३४ में भारतवासियों को अंग्रेजी प्रजा होने के पूरे स्वत्व प्रदान हुए। उन पर स्पष्ट रूप से विदित किया गया कि धर्म, जन्म-स्थान, वंश अथवा रंग के भेद के कारण कोई भी भारतवासी कंपनी के अधीन किसी पद का अधिकारी होने के अयोग्य न समझा जायगा। फिर बीस वर्ष बीत गए। १८५३ में सिविल सर्विस के पदाधिकारी परीक्षा द्वारा चुने जाने लगे। १८५८ में राजविद्रोह के बाद भारतीय गवर्नमेंट का नया कानून बना।

इस लेख में रानडे लिखते हैं—

"इसका कानून बनने के पूर्व किसी प्रकार का अनुसंधान नहीं हुआ, इसलिये कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की अवस्था की पार्लामेंट की ओर से गत तीस वर्ष से कोई जाँच नहीं हुई। भारतवर्ष को सम्राट के अधीन आए २५ वर्ष हो गए, इसलिये समय आ गया है कि प्रत्येक विभाग की पूरी और कठोर आलोचना होनी चाहिए। तभी पार्लामेंट पर विदित होगा कि राज्यप्रणाली में परिवर्तन करने की आवश्यकता है या नहीं" यह लेख १८८४ में लिखा गया था।

रानडे की यह सम्मति आज भी मानी जाती है। योरोपीय युद्ध के बाद भारतवर्षीय शासन में क्या सुधार होना चाहिए इस संबंध में सर विलियम वेडरबर्न और सर कृष्ण गोविंद गुप्त ने कांगरेस को जो पत्र लिखा है उसमें इस पर बहुत जोर दिया है और कहा है कि यह सम्मति रानडे ऐसे "बुद्धिमान और अनुभवी देशभक्त" की है, इसलिये गंभीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है। नए सुधारों के अनुसार अब दसवें वर्ष जाँच होना निश्चय हुआ है।

(१०) ग्रंथ रचना।

रानडे अपने विचार बहुधा व्याख्यानों और लेखों द्वारा प्रकाशित करते थे। सोशल कानफरेंस और अन्य संस्थाओं में जो वक्तृताएँ उन्होंने दीं और सार्वजनिक सभा की पत्रिकादि में जो लेख उन्होंने लिखे थे उनको उच्च श्रेणी का साहित्य समझना चाहिए।

महाराष्ट्रों का अभ्युदय।

उनके ऐतिहासिक ग्रंथों में सब से महत्व की पुस्तक महाराष्ट्रों का अभ्युदय (Rise of the Marhatta Power) है। इसको काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग और रानडे दोनों मिल कर लिखना चाहते थे परंतु तैलंग की मृत्यु के कारण यह कार्य रानडे ही को करना पड़ा। यह पुस्तक सन् १६०० में छप कर प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथक भाग छप जाने पर उन्होंने

दूसरा भाग लिखना आरंभ किया परंतु दो तीन अध्याय भी समाप्त नहीं कर सके थे कि उनको संसार छोड़ना पड़ा। मृत्यु के दो तीन वर्ष पहले से रानडे महाराष्ट्र जाति के इतिहास के ग्रंथ अधिक पढ़ा करते थे। पेशवाओं की दिनचर्य्या, जो साहू राजा के गद्दी के बैठने के समय से आरंभ होती है और दूसरे बाजीराव के समय समाप्त होती है और जिसमें प्रायः २०,००० पृष्ठ हैं उन्होंने खूब पढ़ी थी। "पेशवाओं की दिनचर्य्या की भूमिका" नाम का लेख उन्होंने जून १६०० में बंबई की रायल एशियाटिक सोसाइटी की शाखा सभा में पढ़ा था। उसी सभा में १६ फरवरी १८६६ को "महाराष्ट्र राज्य में सिक्के और टकसाल" शीर्षक लेख उन्होंने पढ़ा था। इन लेखों और उनकी पुस्तक से महाराष्ट्र समय का निर्मल वृत्तांत मिलता है। इनसे पता लगता है कि शिवाजी और अन्य महाराष्ट्र योद्धा लुटेरे नहीं थे। इनमें प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है कि इन लोगों की राज्य प्रणाली बड़ी संगठित थी और इनके आचरण बड़े उत्कृष्ट थे। महाराष्ट्र-अभ्युदय नाम की पुस्तक में निम्नलिखित १२ अध्याय हैं—

(१) महाराष्ट्र इतिहास का महत्व।
(२) भूमि किस प्रकार तयार की गई ?
(३) बीज कैसे बोया गया ?
(४) बीज कैसे लग गया ?
(५) पेड़ में फूल निकले।

(६) पेड़ में फल लगे।

(७) शिवाजी, न्यायपरायण राजा।

(८) महाराष्ट्र देश के साधु संत।

(९) जिंजी।

(१०) अशांति से शांति का प्रादुर्भाव कैसे हुआ?

(११) चौथ और सरदेशमुखी।

(१२) महाराष्ट्र दक्षिणी भारत में।

पुस्तक के अंत में महाराष्ट्र बखर के संग्रह पर काशीनाथ त्रिंबक तैलंग का लेख दिया हुआ है।

रानडे का मत था कि महाराष्ट्र अभ्युदय का कारण औरंगजेब का अत्याचार नहीं था। मुसलमानों का अत्याचार अभ्युदय में सहायक हुआ परंतु उसका कारण यह था कि कई वर्ष पहले से देश में जाग्रति के चिह्न दिखलाई दे रहे थे। इस जागृति का पहला स्वरूप धार्मिक था। शिवाजी ने इसको राजनैतिक स्वरूप दिया। ज्ञानेश्वर कवि ने १३ वीं शताब्दी में पहले पहल इस जाग्रति का सँदेसा दिया। तुकाराम, रामदास, वामन इत्यादि ने जो शिवाजी के समकालीन थे, अपना प्रबल प्रभाव डाला। रामदास शिवाजी के आचार्य हुए। गुरु धर्मप्रवर्तक, शिष्य राजनीतिज्ञ। आचार्य और राजा दोनों मिल कर देशोद्धार की ओर लगे। शिवाजी तुकाराम के कीर्तन सुनने भी जाया करते थे। उनके अनंतर जब पेशवाओं का समय आया तब भी प्रमाण मिलता है कि पहले बाजीराव बिना ब्रह्मेंद्र स्वामी

के पूछे कोई काम नहीं करते थे। शिवाजी की 'अष्टप्रधान' आठ सचिव की प्रणाली ही महाराष्ट्र अभ्युदय का और वही उसकी अवनति का कारण हुई। जब लों शिवाजी के आधिपत्य में सचिव लोग धर्म के बंधन से बँधे रहे, बराबर उन्नति होती रही। आगे चलकर सब अपनी खिचड़ी आप पकाने लगे। अष्टप्रधान में से धर्म का तंतु टूट गया। देश छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होने लगा।

शिवाजी में जितनी वीरता थी और शासन करने का बल था उतना ही आत्मिक बल भी था। धन के अभाव और युद्ध की तमोत्पादक अवस्था में भी उन्होंने अपनी सेना को कठोर आज्ञा दे रखी थी कि स्त्रियों, खेत के पशुओं और कृषक लोगों को कोई न सताने पावे। इसके विपरीत दुश्मनों के सैनिक घोर अत्याचार करते थे। महाराष्ट्र सेना में यदि कोई स्त्री युद्ध के चक्कर में पड़ कर आ निकलती तो वह तुरंत अपने पति के पास भेज दी जाती। जीत से प्रसन्न होकर शिवाजी ने कभी अपने सेनापति और अन्य कर्मचारियों को जागीरें नहीं दीं और जब इसका प्रस्ताव किया गया तब विरोध किया। उनके उत्तराधिकारियों ने इसके विरुद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि जिसको जागीर मिली वह स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की चिंता करने लगा।

शिवाजी के संबंध में रानडे लिखते हैं—

"धार्मिक उद्वेग, प्रबल और आत्मदमन के किनारे तक पहुँचा हुआ; वीरता और साहस, जो इस विश्वास से उत्पन्न

होते हैं कि मनुष्य की शक्ति से बढ़ कर भी शक्ति है जो उसकी और उसके कर्मों की रक्षा करती है; उच्च श्रेणी की प्रतिभा का आकर्षण करनेवाला तेज, जो लोगों में एका पैदा करता है और उनको विजयी बनाता है; समय की सच्ची आवश्यकताओं को पहचानने की शक्ति, और अपने उद्देश्य के पूरा करने की ऐसी धुन, जो समय के पलट जाने पर भी हार न माने; ऐसा चातुर्य और समयोचित संयम जिसका उदाहरण यूरोपीय और भारतीय इतिहास में विरले ही मिलता है; ऐसी देश-भक्ति जो अपने समय से बहुत पूर्व ही अंकुरित हो और न्याय जो दया से अभिन्न हो ये सब कारण थे जिनसे शिवाजी एक महान राज्य के स्थापित करने में सफल हुए"।

शिवाजी की माता उनकी उन्नति का बहुत बड़ा कारण हुई। शिवाजी ने अपने राज्य को प्रांतों (जिलों) में विभाजित किया था। उनके पास २८० किले थे जिनमें युद्ध का पूरा सामान रहता था। जितना बड़ा किला होता था वैसे ही योधा और उतनी ही सेना वहाँ रखी जाती थी।

किलों में चौकीदारी के कठोर नियम थे। उनमें तीन प्रकार के पदाधिकारी रहते थे। एक मराठा हवलदार, एक ब्राह्मण सुबेदार और एक प्रभू कारखानीस। इनके अधीन और बहुत से कर्मचारी थे। हवलदार फौजी अफसर होते थे, सुबेदार आस पास के स्थानों से मालगुजारी जमा करते थे और कारखानीस पर किलों की मरम्मत और अनाज इत्यादि के जमा

करने का भार था। नौ सिपाहियों पर एक नायक होता था। प्रत्येक सिपाही को बँधा हुआ नकद और अनाज वेतन मिलता था। पुरानी प्रणाली यह थी कि राज्य कई भागों में विभाजित करके कर्मचारियों में बाँट दिया जाता था। ये लोग जो कुछ जमा करते थे उसीसे उसका प्रबंध करते थे। थोड़ा राजा को भी उसमें से दे दिया करते थे। शिवाजी ने इस प्रणाली को बिल्कुल बदल दिया। बड़े छोटे सब कर्मचारियों को वेतन मिलने लगा और जो कुछ वे जमा करते सरकारी खजाने में दे देते। सिपाहियों को आज्ञा थी कि मोगलों के राज्य से चौथ जमा करें। वर्ष में आठ महीना उनको यही करना पड़ता था। सिपाही अपने साथ स्त्री और बच्चों को नहीं ले जाने पाते थे परंतु भरती होने से पहले उनको अपनी चाल चलन के लिये जमानत देनी पड़ती थी। विजयादशमीवाले दिन फौज में नए सिपाही भरती होते थे। राज्य भर के खेत नपवाए गए थे। हर एक खेत की पैमाइश, उसके मालिक का नाम इत्यादि लिखा गया था। जितनी उपज होती उसका $\frac{२}{५}$ वाँ हिस्सा सरकार ले लेती। आपस में झगड़ा होता तो पंच उसका निपटेरा करते। हर एक प्रांत का हिसाब सचिव लोगों के पास भेजा जाता। पंतअमात्य और पंतसचिव ये दोनों पदाधिकारी राज्य का हिसाब किताब रखते और जाँचते थे। राज्यासन के नीचे दहनी ओर पहला स्थान पेशवा अथवा प्रधानसचिव का होता और बाईं ओर पहला स्थान सेनापति का। इसी प्रकार सुमंत,

पंडित राव, न्यायाधीश इत्यादि अन्य सचिव बैठते। इन सब की समिति को 'अष्ट प्रधान' कहते थे। ये सब अधिकार योग्यतानुसार मिलते थे। परंपरागत कोई भी पद नहीं मिलता था। शिवाजी इसके बिल्कुल विरुद्ध थे कि जिस पद पर बाप हो उसी पद पर उसका पुत्र नियुक्त किया जाय। उस कुटुंब का भी कोई आदमी उस पद पर नहीं रखा जाता था। आगे चल कर जब पेशवा का पद बाप के मरने वर बेटे को मिलने लगा तब अन्य पदाधिकारी भी काम में ढीले पड़ने लगे।

शिवाजी के समय से पूर्व संस्कृत शिक्षा की ओर लोगों की रुचि कम हो चली थी। शिवाजी ने 'दक्षिणा' की प्रणाली जारी की। बहुत सी जागीरें धर्मार्थ अलग कर दी गईं। उनसे जो आय होती वह उन ब्राह्मणों में बाँट दी जाती जो विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाते थे। शिवाजी ने इसको नियमबद्ध कर दिया। जिस पंडित के यहाँ अधिक विद्यार्थी हों अथवा उच्च विषयों की शिक्षा हो उसको अधिक 'दक्षिणा' मिलती थी। इस प्रकार उत्साहित होकर ब्राह्मण काशी आकर विद्याभ्यास करने लगे। इसके लिये भी उनको पुरस्कार मिलने लगा! इस प्रणाली को पेशवाओं ने भी जारी रखा जिनके समय में ५ लाख से अधिक प्रति वर्ष संस्कृत विद्या के प्रचार के लिये खर्च होता था। अंग्रेजी गवर्नमेंट इसी धन से बंबई विश्वविद्यालय में छात्रवृत्ति देती है। रानडे स्वयं एक 'दक्षिणा' फेलो थे जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

महाराष्ट्र समय का यह अमूल्य ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस स्थान पर दो विषयों पर जो इतिहासवेत्ता लोगों में भ्रम हैं दूर कर देना आवश्यक है। एक शिवाजी के अफजलखाँ को मारने की कथा और दूसरे महाराठों के चौथ जमा करने की प्रथा।

बीजापुर सरकार ने ठान लिया कि शिवाजी को अब नीचा दिखलाना चाहिए। कई बार प्रयत्न करने पर भी उनको सफलता नहीं हुई। इस लिये अपने सब से बहादुर पठान सेनापति अफजलखाँ को बहुत बड़ी सेना लेकर सन १६५९ के आरंभ में शिवाजी की ओर भेजा। अफजलखाँ ने पहले शिवाजी के बड़े भाई को करनाटक की लड़ाई में मरवा डाला था। इस बार उसने भरे दरबार में कहा कि मैं पहाड़ी चूहे (अर्थात् शिवाजी) को जीता या मरा हुआ ले आऊँगा। बीजापुर से वाई के रास्ते में तुलजापुर में अंबा भवानी (शिवाजी के कुल की देवी) और पंढरपुर में विठोबा के मंदिर पड़ते हैं। अफजलखाँ ने इनकी मूर्तियों को तुड़वा डाला और मंदिर में गौ का रक्त छिड़कवा दिया। शिवाजी के लिये यह असाधारण गंभीरता का समय था। उन्होंने 'भवानी' देवी की आराधना की और अपनी माता से आशीर्वाद माँगा। फौज लेकर वे भी आगे बढ़े। युद्ध के लिये एक स्थान चुन लिया गया। उन्होंने अपनी सेना को कृष्णा और कोयना नदी की घाटियों में ठहरा दिया। चारों तरफ जंगल था इस लिये उनकी सेना को बैरी देख नहीं सकते थे। अफजलखाँ ने अपनी सेना को बड़े तपाक से वाई से महा-

बालेश्वर तक फैला दिया। अफ़जलखाँ की कोशिश यह थी कि वह शिवाजी को पकड़ ले, बस लड़ाई की नौबत ही न आवे। शिवाजी चाहते थे कि वह अफजलखाँ को किसी तरह काबू में ले आवें। शिवाजी ने अपने दूत भेजे और कहला दिया कि मैं हार मानने के लिये तय्यार हूँ। अफजलखाँ को विश्वास नहीं हुआ। उसने अपने ब्राह्मण पंडित को ठीक ठीक पता लगाने के लिये भेजा। इस ब्राह्मण का नाम गोपीनाथ पंत अथवा कृष्णाजी भास्कर बतलाया जाता है। शिवाजी की ओर के लोगों ने ब्राह्मण का ब्राह्मणोचित आदर किया। शिवाजी ने उससे रात्रि के समय मिलकर उसको धर्म्म और जाति के प्रति कर्त्तव्यों का उपदेश किया जिसका उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अंत में यह तै हुआ कि अफजलखाँ और शिवाजी एक स्थान पर मिल कर निश्चय करें कि क्या करना चाहिए और उनमें से किसी के साथ भी सेना न हो। दोनों मिले। बस यहीं से इतिहासवेत्ता लोगों में मतभेद है। रानडे लिखते हैं 'मुसलमान इतिहासवेत्ता जिनके आधार पर ग्रैंट* ने इतिहास लिखा है, शिवाजी पर दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने धोखे से बाघनख और भवानी तलवार से पहले अफजलखाँ को मारा; परंतु महाराष्ट्र लेखक, सभासद और चिटनवीस दोनों लिखते हैं कि अफजलखाँ ने मिलते ही अपने बाएँ हाथ से शिवाजी की गर्दन

---

* रालिंसन ने भी अपने सुंदर शिवाजीचरित्र में मुसलमान इतिहास लेखक खफी खाँ के ही आधार पर इस कथा को लिखा है।

पकड़ी और अपनी तरफ खींच कर उनको अपनी बाईं बाँह के तले दबा लिया। शिवाजी पर जब विदित हो गया कि अफजल खाँ की नियत खराब है तब उन्होंने तलवार चलाई। उन दिनों ऐसे अवसरों पर इस प्रकार का धोखा देना साधारण बात थी। इसको मान लेना चाहिए कि शिवाजी और अफजलखाँ दोनों इस खतरे के लिये तय्यार थे। शिवाजी को ऐसा करने के लिये प्रबल कारण थे। उनको अपने बड़े भाई की मृत्यु, तुलजा-पुर और पंढरपुर के मंदिरों के अपवित्र किए जाने का बदला लेना था। उनको यह भी मालुम था वे कि बैरी से खुले मैदान नहीं लड़ सकते थे क्योंकि दोनों की सेना बराबर नहीं थी। गत बारह वर्षों में शिवाजी ने जो कुछ जीत प्राप्त की थी और आगे के लिये जो कुछ सोचा था उसकी सफलता इसी समय के परिणाम पर निर्भर थी। इस लिये धोखे से अपना काम निकालने के लिये अफजलखाँ की अपेक्षा उनको अधिक आव-श्यकता थी। दोनों के चरित्र पर भी विचार करना चाहिए। एक घमंडी और ओछा था। दूसरा अत्यंत गंभीर और चौकन्ना था।'

चौथ और सरदेशमुखी पर रानडे ने एक पूरा अध्याय लिखा है। उन्होंने प्रमाण देते हुए लिखा है कि पूर्व काल से देशमुख लोग मालगुजारी जमा करते थे और उसमें से १०) प्रति सैकड़ा रख लिया करते थे। देशमुख कुटुंब और शिवाजी के कुटुंब में विवाह शादी होने लगी। इस कारण शिवाजी की इच्छा थी

कि वे भी सरदेशमुखी अर्थात् १०) प्रति सैकड़ा कर जमा करें। इस संबंध में उन्होंने शाहजहाँ और औरंगजेब से पत्र व्यवहार किया था परंतु कुछ फल नहीं निकला। १६६७ में शिवाजी ने बीजापुर और गोलकुंडा पर चौथ और सरदेशमुखी का कर लगाया। १६६८ में बीजापुर ने ३ लाख और गोलकुंडा ने ५ लाख दिया। १६७१ में खानदेश के मोगल सूबे से भी कर मिला। १६७४ में कोकन के पुर्तगाल राज्य के अधीन स्थानों से भी कर मिला। जहाँ से कर मिलता था वहाँ के लोगों की मुगल आक्रमणों से रक्षा का भार शिवाजी अपने ऊपर लेते थे। उस समय मोगलों ने जितने आक्रमण किए सब में शिवाजी के सैनिकों ने दक्षिण प्रांत के राज्यों की सहायता की। बेदनोर के राजा और सुनदा के सरदार ने अपनी रक्षा के लिये अपने आप कर देना स्वीकार किया। रानडे लिखते हैं "१६८० में शिवाजी की मृत्यु हुई। इससे पहले उन्होंने दक्षिणी भारत के हिंदू और मुसलमान राजाओं की मरजी से जिनकी वह रक्षा करते थे, कर लेकर उनमें मेल करने की प्रथा स्थापित कर दी थी। मोगलों के सूबों में कहीं कहीं वह जबरदस्ती कर जमा करते थे। सरदेशमुखी मालगुजारी जमा करने के बदले में पहले ही से मिला करती थी। चौथ का कर पीछे जोड़ा गया। यह उस सेना के रखने के लिये खर्च होता था जो विदेशियों के आक्रमणों से बचाने के लिये रखी जाती थी। जिनके रक्षार्थ यह कर लगाया जाता था वे प्रसन्नतापूर्वक इसको देते थे। यह

प्रणाली शिवाजी ही की सोची हुई थी और इसी का अवलंबन एक सौ पचीस (१२५) वर्ष पीछे मारक्विस वेलेस्ली ने अंग्रेजी राज्य की वृद्धि के लिये सफलतापूर्वक किया।'

रानडे के इस इतिहास से मालूम होता है कि महाराष्ट्र लुटेरे और डाकू नहीं थे। उनकी उत्पत्ति और उनका अभ्युदय जातीयता और देशभक्ति के उद्वेग का परिणाम था।

छपते ही इस पुस्तक पर अनेक कटाक्ष हुए। जो लेखक शिवाजी को हत्यारा और लुटेरा समझते थे वे बिगड़ खड़े हुए और कहने लगे कि रानडे ने अपने नायक के गुणों और कार्यों को आकाश तक चढ़ा दिया है परंतु वे लोग यह भूल जाते थे कि रानडे ने शिवाजी और पेशवाओं के समकालीन लेखकों की साक्षी पर अपनी सम्मति निश्चय की थी। रानडे उन लोगों में से नहीं थे जो अपने देश की बुराइयों की भी प्रशंसा करें। हर्ष का विषय है कि अंग्रेजी में जो भारतीय इतिहास संबंधी ग्रंथ अब छपते हैं उनमें शिवाजी के प्रति श्रद्धा-उत्तेजक शब्दों का प्रयोग होता है।

INTRODUCTION TO THE PESHWA'S DIARIES.

पेशवाओं की दिनचर्या की भूमिका।

जिस प्रकार शिवाजी के चरित्र और शासन का वृत्तांत 'महाराष्ट्र राज्य के अभ्युदय' में लिखा गया है उसी प्रकार

इस छोटी सी पुस्तक में पेशवाओं के राज्य के समय का वर्णन है, परंतु यह दिग्दर्शनमात्र है। इसमें केवल ३७ पृष्ठ हैं। आरंभ में इस बात पर विचार किया गया है कि महाराष्ट्र राज्य का सूर्य्य अस्त क्यों हुआ। रानडे लिखते हैं "हमारे साधारण बखर में और ग्रैंट डफ जैसे अंग्रेज इतिहासवेत्ता के ग्रंथों में केवल राजनैतिक घटनाओं का वर्णन होता है। उनसे लोगों की अवस्था, वे किस प्रकार रहते थे, किस प्रकार ऐश्वर्य प्राप्त करते थे, उनका मनोरंजन किस प्रकार होता था; उनके धार्मिक विश्वास, उनकी रहन सहन, उनके आचार व्यवहार और उनके मिथ्या विश्वास, (भूत प्रेतादि से डरना) क्या थे। इन ग्रंथों से यह स्पष्ट पता नहीं लगता है कि भारतवासियों के राज्य-काल में राज्य का कार्य किस प्रकार होता था, भूमि पर कर किस प्रकार लगाया जाता था और जमा होता था, किलों की रक्षा का क्या प्रबंध था, आबकारी, नमक, चुंगी इत्यादि का रुपया किस प्रकार खर्च होता था, फौज में सिपाही किस प्रकार भरती होते थे और उनको वेतन किस प्रकार दिया जाता था, लड़ाई के जहाजों का क्या प्रबंध था, सरकार ऋण किस प्रकार लेती थी, फौजदारी और दीवानी के मुकद्दमों में किस प्रकार न्याय होता था, पुलिस, डाक, टकसाल, जेलखानों, धर्मार्थ संस्थाओं, पेंशन, सड़कों और राजकीय भवनों के निर्माण, रोगियों की चिकित्सा, शहर की सफाई इत्यादि का क्या प्रबंध था, व्यापार और विद्या की किस प्रकार वृद्धि की जाती थी।

बहुत से लोगों को यह असाधारण आश्चर्य की बात मालूम होगी कि केवल सौ वर्ष पहले भारतीय शासक लोगों का ध्यान पूरी तौर पर उन सब विषयों पर था जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और अपने शासन में वे भली भाँति कृतकार्य भी हुए थे। न केवल कृतकार्य ही हुए थे बल्कि शायद बहुत से लोग कह बैठेंगे कि ये लोग अपने नियमित कर्त्तव्यों से आगे बढ़ जाते थे, क्योंकि उन्होंने समाज-संशोधन के बहुत से ऐसे सुधार जारी कर दिए जिनके संबंध में आज कल भी यह कहनेवाले मिल जाँयगे कि ये सुधार शासक के कर्त्तव्यों के बाहर थे। इन सब विषयों के ज्ञान के लिये ये सरकारी दिनचर्य्याएँ जो पेशवाओं के दफ्तर में उच्च कर्मचारी लिखा करते थे अत्यंत बहुमूल्य हैं। यद्यपि उनमें भी दोष हैं परंतु उनसे भी अच्छी सामग्री के अभाव की अवस्था में उनके द्वारा उस समय के लोगों की एक सौ वर्ष से उपरांत तक क्या संस्थाएँ थीं, उनकी आशाएँ और आशंकाएँ, उनके दोष और गुण क्या थे, इन बातों पर प्रकाश पड़ती है। उनका महत्व शिक्षा और सुधार के लिये, लड़ाई और विजय, राज्यवंशों के परिवर्तन और विप्लव की कहानियों की अपेक्षा जो आजकल के साधारण इतिहास ग्रंथों में इतना स्थान लेती हैं बहुत बढ़ कर है।"

एक समय वह था जब महाराष्ट्र लोगों का उस समय के मुसलमान हिंदू, सिक्ख, जाट, रोहेला, राजपूत, पुर्तगाल आदि राज्यों पर पूरा दबदबा था और एक वह समय आया कि

उन्हीं का राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में बटने लगा। रानडे लिखते हैं "इन दो समयों को पृथक करनेवाला काल वह है जब शिवाजी और शाहू की औलाद से राज्यकीय अधिकार ब्राह्मण पेशवाओं के हाथ में चला गया, जब शाहू की मृत्यु के उपरांत महाराष्ट्र राजधानी सातारा से पूना हटा दी गई। राजा शाहू ने पेशवा को समस्त राज्य के प्रबंध करने का अधिकार-पत्र लिख दिया, जिसमें राजा का नाम बना रहे और राज्यवंश की प्रतिष्ठा कायम रहे। शाहू के उत्तराधिकारी राम राजा ने इस अधिकार-पत्र पर मानों अपनी मोहर लगा दी जब उन्होंने भी अपना सब विभव, सिर्फ इस शर्त पर छोड़ दिया कि सातारा के पास उनको थोड़ी सी जमीन अपने लिये मिल जाय। पानीपत के युद्ध को जिसने महाराष्ट्र विजयी की बाढ़ के ज्वार को रोक दिया, उस काल की ऐतिहासिक सीमा का चिह्न समझना चाहिए। इसके उपरांत के ६० वर्षों में जाति के और शासकों के चरित्र के दोष एक एक करके प्रकट होने लगते हैं जिनसे मालूम होता है कि १८१७ में देश के अंग्रेजों के हाथ में आने से बहुत पहले उनका अधःपतन तेजी से हो रहा था। पेशवाओं की पीछे की नीति शिवाजी के निर्धारित सिद्धांतों से जिनका राजाराम और शाहू ने थोड़ा बहुत भक्तिपूर्वक अनुकरण किया था, विपरीत थी। उन सच्चे सिद्धांतों के भूल जाने और फूट और संकीर्णता की ओर झुक जाने से अधःपतन के बीज बो दिए गए।"

शासन पद्धति।

महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास में बतलाया जा चुका है कि शिवाजी राजमंडल के द्वारा शासन करते थे जिसके सबसे बड़े अधिकारी पेशवा थे। सब मंत्रियों के काम बँटे हुए थे और इन पदों पर नियुक्ति योग्यतानुसार होती थी। कोई पद वंशपरंपरा युक्त नहीं था और एक पद से दूसरे पद पर बदली भी होती थी। बालाजी विश्वनाथ के पहले प्रायः १०० वर्ष तक पेशवा के पद पर चार भिन्न भिन्न वंशों के लोग काम कर चुके थे। प्रतिनिधि, सचिव और मंत्री के पद पर तीन भिन्न भिन्न वंशों के लोगों ने काम किया था। सेनापति के पद पर ७ या ८ भिन्न भिन्न वंशों के सर्दार रह चुके थे। यही हाल छोटे पदाधिकारियों का था। प्रत्येक विभाग में अलग अलग अफसर थे; उनमें से कोई जिलाधीश का काम करता, कोई किलों का प्रबंध करता, कोई सेना की देख भाल करता, इन सब की नियुक्ति राजमंडल द्वारा होती थी। अफसरों को अपने अधीन कर्मचारियों को निकालने का अधिकार नहीं था। अफसर भी भिन्न भिन्न जातियों के चुने जाते थे। राजमंडल की सभाएँ होती थीं, जिनमें प्रत्येक राजकीय विषय पर विचार होता था। एक सभा में बाजीराव ने प्रस्ताव किया था कि दिल्ली पर चढ़ाई करनी चाहिए, प्रतिनिधि ने वहीं बाजीराव का विरोध किया था।

आगे चल कर पेशवा, प्रतिनिधि, सेनापति इत्यादि के पद वंश-परंपरागत हो गये। राजा कठपुतली की नाईं रहने लगा।

राजमंडल का बल टूट गया। पेशवा ही अपने को नरपति समझने लगे। इनकी देखा देखी बड़ोदा, इंदौर, ग्वालियर, नागपुर और अन्य महाराष्ट्र रियासतों में भी यही होने लगा। ये रियासतें अपने को स्वाधीन समझने लगीं। राष्ट्रीयता के उच्च भाव संकीर्णता में परिवर्तित हो गए। शिवाजी का यह सिद्धांत था कि राज्य प्रतिनिधियों द्वारा चले और सब लोग धर्म और जाति पर न्योछावर होकर काम करें। उनके समय में ब्राह्मण, मरहठा इत्यादि सब जातियों के लोग युद्ध में लड़ते थे। शिवाजी के कई योद्धा सरदार ब्राह्मण थे।

ब्राह्मणों का प्रभुत्व।

पर उनके पीछे केवल ब्राह्मणों का ही स्वत्व राजमंडल पर अधिक बढ़ने लगा। युद्ध में उन्होंने जाना छोड़ दिया। १७६० में जितने प्रसिद्ध पुरुषों के नाम मिलते हैं सब ब्राह्मण थे। आगे चलकर ब्राह्मणों में भी फूट पड़ी; कभी गौड़ सारस्वतों का मान होने लगा, कभी देशस्थ ब्राह्मण एक ओर हो जाते और कोकणस्थ दूसरी ओर। रानडे लिखते हैं—"दलों के अंदर दल बन गए जिनमें आपस में बिलकुल सहानुभूति नहीं थी कि जो देश की समस्त जातियों को प्रेम के बंधन में जिस प्रकार शिवाजी, राजाराम और शाहू रखने में कृतकार्य हुए थे रख सकें। शताब्दी का प्रथम अर्द्ध भाग इस प्रकार की जातीय ईर्ष्या से बिलकुल मुक्त था। दूसरे अर्द्ध भाग में यह द्वेष इतना बढ़ गया था कि मेल असंभव था और प्रत्येक नेता देश की भलाई को

विरुद्ध अपना ही स्वार्थ देखता था। ब्राह्मण इस समय अपने लिये विशेष स्वत्व और अधिकार चाहने लगे जो शिवाजी की राज्यप्रणाली में नहीं था। कोंकणस्थ ब्राह्मण कारकुन लोगों को जो 'दफ्तर' (Secretariat) में भर गए थे और जिनको वेतन भी अच्छा मिलता था अपना अनाज और असबाब बिना चुंगी अथवा नाव का किराया दिए हुए लाने का अधिकार मिल गया। कल्याण और मावल प्रांत में ब्राह्मण जमींदारों को अन्य जाति के जमींदारों की अपेक्षा आधा या उससे भी कम कर देना पड़ता था। फौजदारी कचहरियों में किसी अपराध का भी कठोर दंड उनको नहीं दिया जाता था (यह प्रथा पहले से चली आई थी)। उनमें से जो किले में कैद किए जाते थे उनके साथ औरों की अपेक्षा रिआयत होती थी। इस प्रकार के लाभ के अतिरिक्त उनको धर्मार्थ कोष से जो कुछ दान होता था मिलता था। द्वितीय बाजीराव के समय के जो लेख मिलते हैं उनमें यह प्रथा किस दुर्गति तक पहुँची थी इसकी पर्याप्त साक्षी मिलती है। दक्षिणा द्वारा दान की प्रणाली से जो विद्योन्नति के अर्थ चलाई गई थी ब्राह्मण मात्र को दान मिलने लगा और पूना कंगालों की बहुसंख्या का केंद्र बन गया। त्योहारों पर सरकार की ओर से कई दिनों तक ३० और ४० हजार ब्राह्मणों को उत्तम से उत्तम भोजन मिलने लगा। शताब्दी के अंत के इतिहास में जाति विशेष के सम्मानादि की बातें अधिक मिलती हैं। बहुत कम इतिहासज्ञ इस पर विचार करते हैं कि इनके

कारण कितनी अधोगति हुई। अंतिम बाजीराव के समय सब जातियों की रक्षा करने और सबके साथ बराबर न्याय करने का आदर्श जाता रहा था। रामदास के महाराष्ट्र धर्म का उच्च आदर्श इतना संकीर्ण हो गया था कि लोग समझने लगे कि राजा का धर्म केवल "गौ ब्रह्मणों की रक्षा करना है।"

सेना।

शिवाजी के समय में किलों के फतह करने के लिये पैदल सिपाही और मैदान की लड़ाई के वास्ते घुड़सवार रक्खे जाते थे। ये घुड़सवार औरंगज़ेब की सेना से लड़ते थे और सारे भारतवर्ष में इनका डर फैल गया था। ये घोड़े सहित या अकेले भरती होते थे और केवल ८ महीने काम करते थे। बरसात आते ही ये अपने घर जाकर खेती करते थे। जब ये भरती होने के लिये आते थे तब पहले ही से इनको कुछ रुपया दिया जाता था जिसको 'नालबंदी' कहते थे, जिसमें लड़ाई का पूरा सामान वे अपने साथ लावें। बड़े बड़े प्रतिष्ठित घर के लोग सेना में सम्मिलित होना जातीय गौरव समझते थे। आगे चलकर महाराष्ट्र फौज में गोलंदाज रखे जाने लगे। अरब, शेख, पुर्तगाल जो कोई मिलता भरती किया जाता। पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम खाँ गर्दी सेनापति था जो किसी महाराष्ट्र अधिकारी की नहीं सुनता था और मनमानी कार्रवाई करता था परंतु सदाशिवराव भाऊ को उस पर बड़ा विश्वास था। यद्यपि इस युद्ध में मरहठों की कमर टूट गई थी

तथापि उन्होंने इधर उधर के निकाले हुए किराए के टट्टुओं को रखना नहीं छोड़ा। उन्हीं के हाथ से नारायणराव पेशवा मारा गया तिस पर भी सेना में उनकी संख्या बढ़ती ही गई। फ़िरंगियों की फौज की सज धज, उनकी गोलंदाजी, उनका नियमबद्ध काम करना देख कर अफसर भी फिरंगी रखे जाने लगे। कभी कोई भूला भटका अंग्रेज या फ्रेंच मिल जाता उस को सेना का अफसर बना देते और अभिमान में चूर हो जाते, यहाँ तक कि किलों का प्रबंध भी ऐसे ही लोगों के हाथ में दे दिया गया। फौज के साथ लुटेरों का दल भी रहता था जिनको पूरा अधिकार था कि जहाँ चाहें लूट मार करें। इधर इनके कारण देश में बड़ा असंतोष फैलने लगा, उधर जब कभी फिरंगी अफसर छोड़ कर चल देते फौज का सब काम बंद हो जाता। वीरता और संगठन शक्ति का लोप होने लगा। रानडे लिखते हैं—"जब जनरल वेल्ज्ली और लार्ड लेक ने जो उनसे लड़ने गए थे, गोलंदाजों की शक्ति को तोड़ दिया तब देश में इतना बल रह नहीं गया था कि अंग्रेजों की विजय जो स्वाभाविक रूप से होनी ही थी रुक सके। पुरानी पैदल और घुड़सवार सेना उत्साहहीन हो गई थी और नए सिपाहियों का जो केवल रुपए के लालच से भरती हुए थे कोई नेता ही नहीं रह गया था, न उन्हें ड्रिल छोड़ कर कुछ युद्ध विद्या ही आती थी। ये सब उतने ही बेकार हो गए थे जितने वे लुटेरे, जो उनके

साथ चलते थे। यही परिवर्तन था जिसने उस शताब्दी के अंत में जाति को बलहीन कर दिया।

सामुद्रिक सेना।

शिवाजी ने सामुद्रिक सेना भी तैयार की थी। उसका सेनापति एक मुसलमान था। पेशवाओं ने इसमें अधिक उन्नति की थी। उनके समय में इस सेना का मुख्य स्थान विजयदुर्ग था। थोड़ी फौज बेसीन स्थान में भी रहती थी। इस सेना द्वारा युद्ध का कोई बड़ा काम नहीं हुआ, केवल व्यापार की रक्षा की जाती थी और कच्छ और गुजरात की ओर से जो सामुद्रिक डाकू आ जाया करते थे उनका कभी कभी दमन किया जाता था। उस समय में आंग्रिया जाति बड़े जोर पर थी। उनके पास भी जहाज थे। अंग्रेजों और अंगरियों में कई बार युद्ध हुआ था। १७५६ में पेशवा बालाजी बाजीराव ने अंग्रेजों का साथ दिया और अंगिरा लोगों के जमीन और समुद्र पर नाश करने में सहायता की। रानडे लिखते हैं "अंगिरा लोगों का बल नाश करने में अंग्रेजों की सहायता करके पेशवाओं ने आक्रमण करने और रक्षा करने के लिये जो जलसेना तैयार की थी उसके महत्व को घटा दिया।"

दुर्ग।

पहले बतलाया जा चुका है कि शिवाजी के समय में ये दुर्ग बड़े काम के थे। इनमें सब जातियों के लोग नौकर रक्खे

जाते थे। ब्राह्मण, मराठा, रामोशी, महार और मांग, छोटी जाति के लोगों से दौड़ धूप का काम लिया जाता था। पेशवाओं के समय में यहाँ अनाज का भंडार रहता था और ऐसे अपराधी मर्द और औरत, जिन को जन्म भर का दंड दिया जाता था यहाँ भेजे जाते थे। अंग्रेजों से जितने युद्ध हुए उनमें इन किलों से कोई रक्षा नहीं मिली।

आर्थिक अवस्था।

शिवाजी के समय राज्य की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। बहुत मुश्किल से आमदनी खर्च बराबर रखा जाता था। परंतु पेशवाओं के समय में दिन प्रति दिन आय बढ़ती जाती थी। इस अंश में पेशवाओं का समय अच्छा था। बाजीराव (प्रथम) को उत्तरीय हिंदुस्तान पर चढ़ाई करने के लिये कठिनाई से रुपया जमा करना पड़ता था। उस समय की 'दिनचर्या' के लेख से पता लगता है कि १७४० और १७६० ई० के बीच में बालाजी बाजीराव ने डेढ़ करोड़ ऋण लिया, जिस पर बारह से अट्ठारह प्रति सैकड़ा ब्याज देना पड़ता था। माधवराव पेशवा को मृत्यु के समय २४ लाख का क़र्ज था। नाना फड़नवीस ने अपने समय में ऋण बहुत कम कर दिया था। अंतिम पेशवा को एक पैसा भी ऋण नहीं था बल्कि उसने अपने निज के लिये बहुत सा खजाना जमा कर लिया था।

मालगुजारी का प्रबंध।

बालाजी बाजीराव, माधवराव और नाना फड़नवीस का मालगुजारी का प्रबंध अच्छा था। आमदनी के नए जरिए निकाले जाते थे और पुराने जरियों का सुधार किया जाता था। इसका ख्याल रखा जाता था कि प्रजा को कष्ट न हो। युद्ध अथवा अकाल के कारण जब प्रजा को कष्ट होता था सरकारी मालगुजारी कम ली जाती थी। बीज और आवश्यक वस्तुओं का दाम घटा कर हिसाब लगाया जाता। रानडे ने प्रत्येक प्रांत की मालगुजारी का किस किस वस्तु पर क्या हिसाब था ब्योरे वार दिया है। उत्तरीय कोनकण में ब्राह्मण जमींदारों से कर कम लिया जाता था।

मालगुजारी जमा करने के लिये अधिकारी अलग थे। उन के विरुद्ध शिकायतें बड़े ध्यान से सुनी जाती थीं, और आवश्यकता पड़ने पर उनको उचित दंड भी दिया जाता था। आमदनी और खर्च का पूरा बजेट बनता था जिसको 'बेहेदा' कहते थे। अंतिम पेशवा के समय में मालगुजारी के साथ साथ उनके लिये भी चोरी से रुपया जमा किया जाने लगा जिसको 'खासगी' कहते थे। इतिहासवेत्ता ग्राँट डफ मुक्तकंठ से स्वीकार करता है कि मालगुजारी में जो कुप्रबंध थे उनके कारण लोगों को इतना कष्ट नहीं था जितनी हानि स्वयं राज्य को पहुँच रही थी। वह यह भी मानता है कि महाराष्ट्र देश भारत के अन्य हिस्सों की अपेक्षा बहुत सुखी था।

देश का विभाग ।

महाराष्ट्र देश बारह सूबों में विभाजित था और प्रत्येक सूबे में कई परगने या मामलत थे जिनको आज कल तालुका कहते हैं। वे सूबे ये थे—(१) खानदेश इसमें ३० परगने थे (२) नेमाड़ प्रांत हांडा इसमें ५ परगने (३) पूना और नगर—१८ परगने (४) कोकण—१५ परगने (५) गंगा थादी, नासिक जिला इसमें शामिल था—२५ परगने (६) गुजरात प्रांत—२० परगने (७) करनाटक (८) सातारा (९) जुन्नार (१०) कल्याण और भिवंडी :(११) अरमार सूबे (१२) विजयदुर्ग और बेसीन।

उस समय में गावों में एक प्रकार का स्वराज्य था। गाँव के लोग अपना प्रबंध आप करते थे।

वेतन और भाव।

नौकरों और सिपाहियों की तनखाह ३) से ७) रु० तक थी। होशियार कारीगर ।=) से ॥=) तक प्रति दिन कमाते थे। चीजों का दाम आज कल की अपेक्षा जल्दी घटता बढ़ता रहता था परंतु तिसपर भी वस्तुएँ आज कल की अपेक्षा तीन या चार गुना सस्ती थीं। कभी कभी कहीं अकाल भी पड़ता था परंतु महाराष्ट्र राज्यकाल में किसी बड़े अकाल का वर्णन नहीं मिलता।

खेतवालों को गाय बैल खरीदने या आग से जलजाने पर मकान बनवाने के लिये रुपया मिलता था।

सरकार की तरफ से नदियों पर घाट बनवाए जाते थे, कुएँ और तालाब खुदवाए जाते थे और सड़कें बनवाई जाती थीं।

आवश्यकता पड़ने पर सरकार मालगुजारी पेशगी लेती थी और उस पर १२) प्रति सैकड़ा व्याज देती थी।

बेगार की प्रथा उस समय भी थी। पहले के पेशवाओं के समय में इस प्रथा से गरीब दुखी थे। माधवराव (प्रथम) के समय में इस कष्ट के निवारण का कुछ प्रबंध किया गया था। जिनसे काम लिया जाता था उनको थोड़ा बहुत रुपया दिया जाने लगा। रानडे लिखते हैं "इस दिनचर्य्या के मालगुजारी संबंधी लेख को पढ़कर चित्त पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह कहना कठिन होगा कि गत ८० वर्षों में इस संबंध में किसी प्रकार की उन्नति हुई है"।

भूमि के कर के अतिरिक्त मकानों और दूकानों पर टैक्स लगता था। नमक पर भी टैक्स लगाया जाता था परंतु वह आज कल की अपेक्षा बहुत ही कम था। कहीं कहीं ताड़ी पर टैक्स लगता था।

अनेक प्रकार के छोटे छोटे और टैक्स थे जैसे—घी पर, भैंस पर, विवाह पर। घास चराने के लिये और मछली पकड़ने के लिये टैक्स देना पड़ता था। घाटों पर प्रायः कर नहीं देना पड़ता था। ये सब सरकारी थे पर कहीं कहीं जहाँ आना जाना बहुत लगा रहता था घाटों का ठीका दिया जाता था।

न्याय।

प्रत्येक प्रांत में कचहरियाँ थीं। उन सब के ऊपर न्यायाधीश का अधिकार था जो पूना में कचहरी करते थे। न्यायाधीश के पद पर जितने लोग थे उनके नाम मिलते हैं। वे विद्वान्, अनुभवी और धर्मज्ञ थे। उनमें रामशास्त्री का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। ये अपने घर में केवल एक दिन का भोजन रखते थे। सादी चाल से रहते थे। जब नारायणराव मार डाला गया और थोड़े दिनों के लिये रघुनाथराव पेशवा बन बैठे, रामशास्त्री ने यह कह कर न्यायाधीश का पद त्याग दिया कि नारायणराव के मारे जाने का प्रायश्चित यह है कि रघुनाथराव मारा जाय, इसके राज्य में कभी ऐश्वर्य नहीं आयगा।

दीवानी में अधिकार जायदाद के बटवारे, जमीन की चौहदी के झगड़े, वंश चलाने के लिये गोद लेने इत्यादि के मुकदमें आते थे। दोनों तरफ से साक्षी उपस्थित किए जाते थे। पवित्र नदियों के जल की कसम दी जाती थी, गवाहों का बयान लिखा जाता था, दोनों तरफ के लोग अपनी ओर से पंच चुनते थे। जब साक्षी नहीं मिलती थी तब खौलते हुए पानी में हाथ डाला जाता था। लोगों का विश्वास था कि सच्चे आदमी का हाथ नहीं जलता परंतु ऐसे मुकदमें बहुत कम होते थे। 'दिनचर्या' के लेख में ७० अभियोगों का वर्णन है जिनका पूरा फैसला दिया हुआ है। इनमें से केवल ६ ऐसे हैं जिनमें आग की साक्षी

पर फैसला निर्भर किया गया था परंतु केवल दो ही में उसकी नौबत आई। उस समय वकील नहीं थे।

फौजदारी के मुकद्दमों में जन्म भर का कारागार, थोड़े काल के लिये कैद, जायदाद के जब्त होने, जुर्माने और देश-निकाले का दंड होता था। माधवराव (प्रथम) के समय में कुछ अभियोगों में नाक, कान काटे गए थे परंतु ऐसे उपद्रव के समय में भी फाँसी किसी को नहीं दी गई। नाना फड़नवीस के काल में अवश्य बड़ा कठोर दंड मिलता था। खून, राजविद्रोह और डकैती के मुकद्दमों में निर्दयता से शरीर अंग भंग किया जाता था और फाँसी दी जाती थी। ब्राह्मण और किसी जाति की स्त्री को इस प्रकार का दंड नहीं मिलता था।

रानडे ने अपने इस ग्रंथ में प्रत्येक प्रकार के अभियोगों की संख्या बतलाई है और प्रत्येक अभियोग में जो जो दंड दिए गए उनका उल्लेख किया है। उनका ब्योरा पढ़ने से मालूम होता है कि बलवा करने या बैरी से मिल जाने पर किले में कैद करने अथवा जायदाद के जब्त होने की आज्ञा हुआ करती थी। परंतु पेशवाओं के मारने का यत्न करने अथवा राज्य के विरुद्ध युद्ध ठानने पर अपराधी हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया जाता था।

गुलामी।

व्यभिचार के लिये स्त्रियों को जन्म भर कैद में रह कर चक्की पीसनी पड़ती थी और मरदों को जुर्माना होता था अथवा कैद

होती थी। ऐसी स्त्रियों को केवल इतना ही दंड नहीं मिलता था। ये सदा के लिये अपनी स्वतंत्रता खो बैठती थीं। इनके साथ गुलामों का सा बर्ताव होता था। इनकी संतान भी ऐसी ही समझी जाती थी। दूसरी रियासतों से बंजारे लोग बच्चों को बेचने के लिये भगा लाते थे। ये बच्चे भी गुलाम समझे जाते थे। इस प्रकार से पेशवाओं के समय में गुलामी की प्रथा चल निकली थी। जब ये बुड्ढे हो जाते थे, कभी कभी लोग धार्मिक भाव से भी इनको छोड़ दिया करते थे। इन गुलामों, विशेष कर स्त्रियों के साथ, दया का बर्त्ताव होता था।

भूत प्रेतादि में विश्वास।

एक प्रकार के अपराध का उस समय के इतिहास में बहुत वर्णन आता है। उसका दंड भी बहुत था। वह भूत प्रेतादि के संबंध में था। यदि यह मालूम हो जाता कि अमुक स्त्री या मर्द अपने पड़ोसियों या अन्य लोगों के कुटुंब पर जादू टोना करती है या भूत डाल देती है तो उनकी कड़ी सजा होती थी। अंतिम दो पेशवाओं के समय में तो कई कर्मचारी केवल ऐसे लोगों की तलाश और सजा के लिये नियुक्त किए गए थे। जिलाधीश और पुलिस का उस समय यह कर्त्तव्य था कि इस कष्ट से लोगों को बचावे।

पुलिस।

उस समय में भी पुलीस थी। बड़े बड़े शहरों में कोतवाल

भी रहते थे। इन लोगों का काम नगर की रक्षा तो था ही परंतु नगर की सफाई भी इन्ही के सुपुर्द थी। झाड़ू देनेवालों को येही नियुक्त करते थे। कोतवाल को लोगों को दंड देने का भी अधिकार था।

डाकखाने।

उस समय में डाक का प्रबंध नहीं था। सरकारी डाक 'कासिद' लोगों के द्वारा भेजी जाती थी। इन लोगों को यात्रा में प्रतिदिन ३) मिलता था। ये लोग १८ दिन में दिल्ली डाक पहुँचाते थे। कलकत्ते की डाक बनारस भेजी जाती थी और वहाँ से अंग्रेजी डाकखाने के द्वारा पत्र कलकत्ते चला जाता था।

साधारण लोग अपनी चिट्ठी पत्री साहुकारों की आढ़तों के द्वारा भेजते थे।

औषधालय।

उस समय में अस्पताल भी नहीं थे। हकीम और वैद्यों की संख्या अवश्य बहुत थी। इनमें से किसी किसी का राज्य की ओर से विशेष सम्मान होता था। एक गुजराती वैद्य का वर्णन आया है जो नासिक में मुफ्त दवा बाँटा करता था। राज्य की ओर से इसको जागीर भी मिली थी। इसके पुत्र ने भी औषधालय स्थापित रक्खा इस लिये जागीर उसके नाम कायम रही। एक दूसरे वैद्य के संबंध में भी लिखा है कि वाई स्थान में

सरकार ने उसके लिये औषधियाँ बोने के निमित्त एक वाटिका बनवा दी थी और अन्य प्रकार से भी उसको सहायता मिलती थी।

पेंशन।

सेना-विभागवालों को बड़ी उदारता से पेंशन मिलती थी। पेशवाओं के इतिहास में सहस्रों ऐसे लोगों के उदाहरण मिलते हैं जिनके मर जाने पर कुटुंब पालन के अर्थ उनके घरवालों को बराबर पेंशन मिलती रही। पिता के मरने पर पुत्र को उसका पद मिल जाया करता था। इस प्रकार की उदारता में ब्राह्मण, मराठा, हिंदू और मुसलमान सब के साथ एक सा बर्ताव होता था। युद्ध में जो घायल हो जाते उनके साथ भी ऐसा ही बर्ताव किया जाता था।

दानप्रणाली।

महाराष्ट्र राजा कई लाख वार्षिक दान करते थे। ब्राह्मणों की दक्षिणा के अतिरिक्त, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, मुसलमानों की दर्गाहों और मसजिदों के लिये राज्य से दान मिलता था। कोकण स्थान के ईसाई भी सहायता पाते थे। दान देने में प्रजा के सुख का ध्यान किया जाता था और किसी धर्म-विशेष के लोग उससे वंचित नहीं किए जाते थे।

व्यापारवृद्धि।

व्यापार वृद्धि के निमित्त विदेशी व्यापारियों का उत्साह

बढ़ाया जाता था। अरब से घोड़ों के जो व्यापारी आते थे उनके कोकण के बंदरगाहों में बसने का प्रबंध किया जाता था, फिरंगियों का असबाब बिना चुंगी के महाराष्ट्र राज्य में बिकता था। बुंदेलखंड की पन्ने की खान खोदने में पेशवा ने सहायता दी थी। पूना का रेशम का रोजगार बरहानपुर से आए हुए व्यापारियों के द्वारा बढ़ा था।

पूना नगर की वृद्धि के लिये लोगों को जमीन मुफ्त दी जाती थी। पूना पहले एक साधारण कसबा था। मुफ्त जमीन दे दे कर यह इतना बसाया गया कि भारत के बड़े और प्रसिद्ध नगरों में गिना जाने लगा।

विद्यावृद्धि।

जिस प्रकार व्यापारी पूना इत्यादि स्थानों में आ कर बसने लगे, उसी प्रकार संस्कृत के विद्वान बंगाल, मिथिला, काशी, करनाटक, द्रविड़ और तैलंगण आदि स्थानों से आ कर पूना में बस गए। पूना संस्कृत विद्यापीठ बन गया। यह गौरव अंग्रेजी राज्य में भी इसको कई वर्षों तक प्राप्त रहा। नाना फड़नवीस ६००००) वार्षिक विद्यावृद्धि के लिये देते थे। दूसरे बाजीराव बहुत सी बातों में व्यर्थ धन नष्ट करते थे परंतु इसके साथ ही विद्वानों और पंडितों, कवियों और साहित्यसेवियों को भी धनादि दे कर सम्मानित करते थे। वे चार लाख वार्षिक दान करते थे। साधारण ब्राह्मणों को मैदान में बैठा कर भोजन करा

दिया जाता था परंतु विद्वान पंडित राजमहल में बुलाए जाते थे और उनको दुशाले और दक्षिणा दी जाती थी।

मिथ्या विश्वास।

भूत प्रेतादि में विश्वास का उल्लेख ऊपर हो चुका है। 'दिनचर्या' के लेखों में अन्य प्रकार के अनेक विचित्र विश्वासों का बयान आया है। एक बार एक विद्यार्थी ने देवी के सामने अपनी जीभ काट डाली थी। गुजरात निवासी एक भक्त ने मंदिर में अपना सिर काट के चढ़ा दिया था।

कल्याण तालुके में भूकंप आया। लोगों ने समझा कि बस अब देश पर कोई राजनैतिक अरिष्ट आयगा। एक दुर्ग कुछ टूट फूट गया। लोगों ने समझा कि कुदृष्टि (नजर लग जाने) के कारण ऐसा हुआ है। एक जागीरदार ने सरकार को लिखा कि हमारी जागीर लेकर इसके बदले में दूसरी दी जाय क्योंकि इस जागीर में भूतों का घर है। पहले त्रिंबक की देवी के सामने भैंसे मारे जाया करते थे पर पीछे यह प्रथा रोक दी गई। एक बार अकाल पड़ा तो इस प्रथा को फिर जारी कर दिया। पंढरपुर की मूर्ति पर छिपकली गिर गई। इस पर कई दिनों तक मंदिर का प्रायश्चित कराया गया।

धर्म की अवस्था।

गोरक्षा पर महाराष्ट्रों का बड़ा ध्यान था। कोई कसाई गौ मोल नहीं ले सकता था। जो मुसलमान गौ बेच देते थे उनको

सजा होती थी। एक ब्राह्मण ने गौ की पोंछ कटवा डाली इस पर वह जेलखाने भेजा गया। महीनों तक यज्ञादि हुआ करते थे। यदि प्रजा की ओर से कोई यज्ञ होता तो सरकार से सहायता मिलती थी। पूना में चारों ओर मंदिर बनने लगे। २५० का उल्लेख पाया जाता है। हनुमानजी के ५२ मंदिर थे, श्री रामचंद्रजी के १८, विष्णु के ६, विठोबा के ३४, बालाजी (श्रीकृष्ण) के १२, महादेव जी के ४०, गणपति के ३६।

सुधार की ओर रुचि।

पेशवाओं की बुद्धिमत्ता का उन सुधारों से परिचय मिलता है जो उन्होंने अपने समय में जारी किए। उस समय सदा मुसलमानों से झगड़ा लगा रहता था। धोखे से या जबरदस्ती कभी कभी हिंदू मुसलमान हो जाते थे। चार उदाहरण मिलते हैं जिनमें ऐसे लोग बिरादरी की सम्मति से और सरकार की आज्ञा से फिर हिंदू जाति में ले लिए गए थे। पूताजी बंदगर एक मरहठा था। मुगलों ने उसको कैद कर के जबरदस्ती मुसलमान बना लिया। एक वर्ष मुसलमानों के साथ रह कर वह बालाजी विश्वनाथ की सेना से आ मिला। उसने बिरादरी में मिलने की इच्छा प्रगट की। राजा शाहू की आज्ञा से बिरादरी ने उसे ले लिया। रास्ते उपनाम के एक कोकणस्थ ब्राह्मण को हैदर ने अपनी सेना में नजरबंद रखा। अपनी जान बचाने के लिये उसको मुसलमानी ढंग से रहना पड़ता था। उसको भी सरकार की आज्ञा से बिरादरी ने ले लिया। नागर

जिले में एक ब्राह्मण था वह धोखे से मुसलमान हो गया था। उसी प्रकार पैठण में (जो अब निजाम की रियासत में है) एक ब्राह्मण रोगग्रस्त रहता था। उसको यह विश्वास दिलाया गया कि तुम मुसलमान हो जाने पर अच्छे हो जाओगे। वह मुसलमान हो गया परंतु पीछे बहुत पछताया। इन दोनों ब्राह्मणों को पंडितों की सम्मति से और राजाज्ञा से बिरादरी ने फिर मिला लिया।

पेशवाओं के समय में मदिरा का बनाना और बेचना बिलकुल मना था। इस सिद्धांत पर वे बड़े दृढ़ थे। परंतु जब उन्होंने पुर्तगालवालों से बेसीन, चौल और अन्य स्थान जीते और वहाँ के कोली इत्यादि जातियों ने प्रार्थना की कि उनको शराब पीने की आज्ञा मिले तब केवल उन्हीं जातियों के लिये आज्ञा प्रदान की गई। इन जातियों और अन्य छोटी जातियों के अतिरिक्त कोई शराब नहीं पी सकता था। ब्राह्मणों, प्रभु जाति के लोगों और सरकारी कर्मचारियों को आज्ञा थी कि यदि इनमें से कोई भी मदिरा पान करेगा तो उसकी कड़ी सजा होगी। नासिक के कई ब्राह्मणों पर, जो धर्माधिकारी थे, कुछ संदेह था कि ये मदिरा पान करते हैं। जब उनसे प्रश्न किया गया तब वे लड़ने पर तय्यार हुए। वे क़िले में कैद कर दिए गए। खेड़ तालुका में एक धनी मरहठा रहता था। उसको एक बार चितौनी दी गई कि तुम मादक वस्तुओं का प्रयोग छोड़ो,

परंतु उसने कुछ परवाह नहीं की। इसपर उसकी आधी जमीन जब्त कर ली गई।

दूसरे बाजीराव के समय में यदि कोई लड़कीवाला रुपया लेकर लड़की का विवाह करता तो उसको दंड मिलता और साथ ही उनकी भी सजा होती जो रुपया देता और जो बीच में पड़ कर विवाह कराता। कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि विवाह तै हो गया और पेशवा सरकार ने उसको तोड़ दिया। एक बार सरकार को मालूम हुआ कि एक कोढ़ी लड़के का विवाह एक लड़की से निश्चय हुआ है तुरंत राजाज्ञा से वह विवाह बंद करा दिया गया। सदाशिवराव भाऊ का पानीपत की लड़ाई के बाद कहीं पता नहीं लगा। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ चल दिए। ऐसी अवस्था में लोग यही अनुमान करने लगे कि वे लड़ाई में मारे गए। पेशवा सरकार की आज्ञा हुई कि उनकी स्त्री विधवा न मानी जाय। २१ वर्ष तक वह जीती रही। उसकी मृत्यु के उपरांत पति और पत्नी दोनों का अंत्येष्टि संस्कार एक साथ हुआ। नारायणराव पेशवा के मरने पर भी उनकी स्त्री को सिर नहीं मुड़वाना पड़ा। यह प्रसिद्ध है कि परशुराम भाऊ पटवर्धन अपनी विधवा कन्या के विवाह का प्रबंध पंडितों की सम्मति से कर रहा था। जब पेशवा को समाचार मिला उन्होंने इसका कुछ भी विरोध नहीं किया, परंतु भाऊ ने घर की स्त्रियों के विरोध के कारण स्वयं अपने प्रस्ताव को रोक लिया। सुनारों ने एक बार आंदोलन किया कि उनके

घर की पूजा पाठ उनकी बिरादरी ही के लोग कराया करें। पूना के जोशी ब्राह्मणों ने इसका घोर विरोध किया। पेशवा सरकार ने सुनारों के पक्ष में फैसला दिया। कुम्हार लोग चाहते थे कि विवाह के समय उनके यहाँ दुलहा और दुलहिन घोड़े पर चढ़ कर निकलें। इसपर लोहार और बढ़ई बिगड़ खड़े हुए। सरकार ने कुम्हारों को अपनी इच्छा पूरी करने की आज्ञा दी। दूसरे बाजीराव ने प्रभु लोगों को यज्ञोपवीत धारण करने और संस्कारों के समय वेदमंत्रों का उच्चारण करने की आज्ञा दी। कोकण के रहनेवाले एक कलवार ने गुजरात के रहनेवाले कलवार के घर अपनी लड़की ब्याह दी। यह नई बात थी। वह बेचारा जातिच्युत कर दिया गया। उसने सरकार में फरयाद की; हुक्म हुआ कि वह बिरादरी में मिला लिया जाय। बालाजी बाजीराव का अपना विवाह भी देशस्थ कुटुंब में हुआ था जो नियम विरुद्ध था।

रानडे लिखते हैं "विचारणीय यह नहीं है कि ऐसी बातों में सफलता कितनी हुई। हमको देखना यह है कि उस समय के हमारे देशी शासक लोगों को इन बातों में अनुराग था और उस समय की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के संबंध में जो आज्ञाएँ उन्होंने दी थीं उनसे कितनी उदारता प्रगट होती है"।

CURRENCIES AND MINTS UNDER MAHRATTA RULE.

महाराष्ट्र राज्य के सिक्के और टकसाल

महाराष्ट्र राज्य के अभ्युदय संबंधी पुस्तक में ३२४ पृष्ठ हैं जिनमें से २५४ रानडे के लिखे हुए हैं और शेष काशीनाथ त्रिंबक तैलंग के। सिक्कों और टकसालों संबंधी लेख केवल १२ पृष्ठों का है। कृष्णाजी अनंत सभासद ने शिवाजी के समय का इतिहास (बखर) लिखा है। यह ग्रंथ कई सौ वर्ष पुराना है। इससे मालूम होता है कि १७ वीं शताब्दी में २६ प्रकार के स्वर्ण सिक्के भिन्न भिन्न मोल और तौल के भारत के दक्षिण भाग में प्रचलित थे। इनमें से कुछ सिक्कों पर विजयनगर राज्य के जो सोलहवीं शताब्दी में नाश हो चुका था राजाओं के नाम थे जैसे, शिवराय, कृष्णराय, रामराय, इत्यादि। 'सभासद' ऐसे सिक्कों के नाम भी लिखता है जो स्थान विशेष के नाम से प्रचलित थे जैसे तंजोर, धारवाड़, वेलोर, रामनाथपुरी इत्यादि। मुसलमान राजाओं ने दक्षिण प्रांत जीतने के बाद अपने सिक्के जारी किए जो सोने और चाँदी के थे जिनको 'सभासद' शाही और पादशाही सिक्के लिखता है। बात यह है कि मुसलमान राजाओं ने अपने सिक्के चलाने पर भी पुराने सिक्कों का प्रचार बंद नहीं किया, इसी प्रकार शिवाजी के राज्य में आदिलशाही और निजामशाही सिक्के चलते थे। भारत के उत्तरीय भाग में चाँदी के सिक्कों और दक्षिणी भाग में सोने के सिक्कों का प्रचार

अधिक था। शिवाजी के समय के जितने दान-पत्र अथवा सनदें मिली हैं उनमें रुपयों का नाम नहीं है सोने के सिक्कों का नाम है। यही हाल पेशवाओं के समय की सनदों का है। करनाटक की सरकार और पेशवा लोग मालगुजारी की तशखीस सोने के सिक्कों में करते थे और खजाने में जमा भी सोने ही के सिक्के किए जाते थे। १८ वीं शताब्दी के अंत में जब टीपू की रियासत का बटवारा होने लगा तब उसकी आमदनी का हिसाब सोने के सिक्कों में लगाया गया था। १६६४ में पिता की मृत्यु के उपरांत जब शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की उस समय उन्होंने रायगढ़ में टकसाल स्थापित किया और ताँबे और चाँदी के सिक्के ढलवाए। ताँबे के सिक्के के एक ओर "श्री राज शिव" और दूसरी ओर "छत्रपति" खुदा हुआ था। यह शिवरये पैसे कहलाते थे। शाहू और रामराज ने सातारा में, संभाजी और उसके उत्तराधिकारियों ने कोल्हापुर में अपने नाम के पैसे ढलवाए परंतु डेढ़ सौ बरस तक इन सब पैसों को लोग शिवरये पैसे ही कहते रहे। डबल पैसे भी ढाले जाते थे। पैसा दस मासे का था और डबल बाईस मासे का। पैसे से कम दाम का कोई सिक्का नहीं था। हाँ, कौड़ियाँ खूब चलती थीं। फारसी अक्षर खुदे हुए पैसे भी मिलते हैं परंतु प्रचार देवनागरी अक्षरवालों का ही अधिक था। उस समय के जितने पैसे मिलते हैं उनमें लेख की भिन्नता पाई जाती है। किसी पर 'शिब' है, किसी पर 'शीव' है। 'सिव' और 'सीव' भी मिलते

हैं। "श्री राजा शिव छत्रपति" में 'पति' और 'पती' दोनों प्रकार से लिखे हुए सिक्के मिलते हैं। पहले विद्वानों को यह भ्रम हुआ था कि इस प्रकार का भेद इन सिक्कों के भिन्न भिन्न स्थानों में ढाले जाने के कारण हो परंतु रानडे लिखते हैं कि अनुसंधान करने से संतोषजनक प्रमाण मिले हैं कि यह उन सुनारों की मूर्खता से होता था जो टकसालों में ठप्पा बनाते थे।

शिवाजी के समय में जो रुपए ढाले जाते थे उन पर शायद फारसी अक्षर रहते थे। पेशवाओं और अन्य महाराष्ट्र राजाओं के समय के चाँदी के सिक्कों पर फारसी ही अक्षर मिलते हैं। उन पर दिल्ली के बादशाह का नाम और उनके राज्य का समय छपा रहता था।

शिवाजी के सिक्कों पर दो प्रकार के संस्कृत लेख भी मिलते हैं। (१) शहासूनोरियं मुद्रा शिवराजस्य राजते। (२) शहासुतस्य मुद्रेयं शिवराजस्य राजते।

शिवाजी के पुत्र संभाजी के समय में टकसाल बंद हो गया। शाहू के गद्दी पर बैठने के उपरांत सातारा में टकसाल खोला गया जहाँ सोने चाँदी और ताँबे के सिक्के फिर ढलने लगे। काम बढ़ जाने पर रहिमतपुर में पैसों के लिये दूसरा टकसाल चलाया गया।

जब शाहू सातारा में थे तब घर की फूट के कारण ताराबाई ने कोल्हापुर में दूसरी रियासत स्थापित कर ली थी। कोल्हापुर के राजा पहले पन्हला स्थान में रहते थे। ताराबाई

के पुत्र संभाजी ने यहाँ टकसाल बना लिया। जो रुपए यहाँ से निकलते थे "संभू रुपए" कहलाते थे। जब कोल्हापुर राजधानी बनाई गई तब टकसाल भी यहीं आ गया। १८५० ई० तक इसमें सिक्के बनते रहे। १८६० में इसके बनाए हुए सब सिक्के बंबई बैंक में अंग्रेजी सरकार की आज्ञा से भेज दिए गए। सातारा और कोल्हापुर के टकसाल सरकारी नहीं थे। इनको वहाँ के साहूकारों ने चलाया था। ये साहूकार सरकार को ऋण दिया करते थे। परंतु सिक्कों को प्रचलित करने से पहले राजा की आज्ञा लेनी पड़ती थी। जो चाहे, सोना चाँदी देकर सिक्के नहीं बनवा सकता था। इन साहूकारों के नाम भी रानडे ने दिए हैं। टकसाल खोलने के लिये पेशवाओं से विशेष आज्ञा लेनी पड़ती थी। जितने सिक्के बनते थे उनमें से कुछ भाग सरकार को देना पड़ता था। १७६५ में जब धारवाड़ में मुख्य टकसाल खोला गया उस समय १६ स्थानों में टकसाल थे जो बंद कर दिए गए। परंतु आगे चलकर भिन्न भिन्न स्थानों में फिर नए नए टकसाल खुलने लगे। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की, आज कल की भाँति, सुगमता नहीं थी। इसलिये टकसालों की संख्या अधिक रहा करती थी।

छोटे जागीरदारों ने अपने अपने टकसाल अलग खोल दिए थे। गुजरात, मध्य भारत और मध्यदेश में महाराष्ट्र राजाओं ने अपने टकसाल चलाए थे। रानडे ने इन सबके नाम तौल इत्यादि दिए हैं। अंत में लिखा है—

"महाराष्ट्र राज्य के सिक्के और टकसालों पर जो कुछ कहा गया है उनसे हमें वर्त्तमान काल में शिक्षा मिलती है; क्योंकि अंग्रेजी राज्य के कारण भारत में बहुत कुछ परिवर्त्तन हुआ है। यह स्पष्ट है कि जिस समय में एक स्थान से दूसरे स्थान में आना जाना कठिन था और रियासतों की अधिकता थी सिक्के की बहुतायत की आवश्यकता थी। इसके चिह्न भी निश्चयपूर्वक पाए जाते हैं कि यह बहुतायत शासन-प्रणाली के ढीले हो जाने पर हुई थी। दूसरी उससे महत्व की बात जो हमें इस समय का इतिहास बतलाता है वह इस कथन के संबंध में है कि भारत गरीब देश है इसलिये यहाँ सोने के सिक्के नहीं चल सकते। यह बात ठीक नहीं है, जैसा महाराष्ट्र राज्य के टकसालों के इतिहास से मालूम होता है। उस समय में सोने के सिक्के बनते थे और खूब चलते थे, यद्यपि चाँदी के सिक्कों के हिसाब, उनका क्या भाव था इसको कभी नियमबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया। गत (अठारहवीं) शताब्दी में सोने और चाँदी का भाव निश्चित था और इनमें १५॥ और १ का भेद था जो उस हिसाब से आश्चर्य की समानता रखता है, जो आज कल के सोने का सिक्का चलाने के पक्षपाती रखना चाहते हैं। यह समानता स्मरण रखने योग्य है क्योंकि इससे मालूम होता है कि नवीन प्रस्ताव ऐसी कठिनाई उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं जैसा बहुत से लोग समझ बैठे हैं। जो इस देश में चाँदी ही के सिक्के के पक्षपाती हैं वे भी मुगल और महाराष्ट्र शासकों के

इतिहास के पढ़ने से लाभ उठा सकते हैं। कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता कि जब सौ (१००) वर्ष पहले सोने के सिक्कों की माँग थी तब इस समय जब कि व्यापार और बंकों के काम का विस्तार इतना बढ़ गया है क्यों न हो। इस विषय को हम यहाँ उन लोगों के लिये छोड़ देते हैं जिन्होंने भारतीय अर्थ शास्त्र का विशेष मनन किया है। जो बातें यहाँ बतलाई गई हैं यदि उनसे उन लोगों के परिश्रम में कुछ सहायता मिले तो मैं यही चाहता था कि इस रूखे विषय में वर्त्तमान काल में कुछ अनुराग मालूम हो जिसकी ओर मैंने इस संस्था के सभासदों का ध्यान दिलाया है।"

यह लेख रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई की शाखा सभा में १६ फरवरी १८९९ को पढ़ा गया था। उस समय से अब सिक्कों संबंधी अनुसंधान बहुत अधिक हो रहा है। महाराष्ट्र राज्यों के अब बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार सोने का सिक्का चलाने के विषय पर भी रानडे के समय के उपरांत सरकार, विद्वानों और व्यापारियों ने बहुत कुछ विचार प्रगट किए हैं।

महाराष्ट्र इतिहास संबंधी रानडे की इन तीन पुस्तकों का यहाँ केवल बहुत संक्षिप्त सार लिखा गया है। इतिहासप्रिय लोगों को इन ग्रंथों में बड़ी रोचक बातें मिलती हैं। इनके पढ़ने से देशाभिमान, स्वजातीय प्रेम और भविष्य के लिये आशाएँ उत्पन्न होती हैं।

ESSAYS ON INDIAN ECONOMICS.

रानडे के ग्रंथों में यह बड़े महत्व का है। यह ग्रंथ चिर-स्मरणीय रहेगा। यह १८९९ में छपा था, इसमें भारतीय आर्थिक अवस्था पर उनके १२ निबंधों का संग्रह है। ये निबंध भिन्न भिन्न अवसरों पर लिखे गए थे। कई औद्योगिक महासभा के अधिवेशनों में व्याख्यान रूप से पढ़े गए थे। ये निबंध निम्न-लिखित विषयों पर हैं—

(१) भारतीय अर्थ शास्त्र।

(२) भारतवर्ष में लेन देन की प्रणाली का पुनः संगठन।

(३) डच लोगों की जावा आदि स्थानों में कृषि प्रणाली।

(४) भारतीय कारीगरी की वर्तमान अवस्था और उसका भविष्य।

(५) भारतीय कुलियों का विदेश भेजा जाना।

(६) लोहे का व्यापार।

(७) औद्योगिक महासभा।

(८) मनुष्य संख्या की गिनती की ३० वर्ष की समालोचना।

(९) विलायत और भारत में स्थानिक स्वराज्य।

(१०) रूस के असामियों की स्वतंत्रता।

(११) प्रशिया देश के भूमि संबंधी नियम और बंगाल का खेती संबंधी कानून।

(१२) भूमि क्रय संबंधी भारत में अंग्रेजी सरकार के नियम।

विषय सूची से ही रानडे के परिश्रम और विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है। उनके विचारों का सारांश लिखना कठिन है। यह ग्रंथ आद्योपांत पढ़ने योग्य है। इसके छपने पर प्रायः सभी अंग्रेज और हिंदुस्तानी पत्र संपादकों ने इसकी प्रशंसा की थी। स्वतंत्र विचार की पुस्तक होने पर भी किसी किसी विश्वविद्यालय में यह एम ए. के अर्थशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में रखी गई थी। इस शास्त्र पर एक भारतवासी का लिखा हुआ यह पहला ग्रंथ है। अब इस प्रकार के कई ग्रंथ छपते जाते हैं। प्रायः सभी अंग्रेज अर्थवेत्ता लोगों की सम्मति है कि फ्री ट्रेड से भारत का उपकार है अर्थात् जिस देश के व्यापारी चाहें अपना माल यहाँ भेजकर बेच सकते हैं। रानडे ने इस ग्रंथ में इसका विरोध किया है। उन्होंने बतलाया है कि अर्थ शास्त्र के सिद्धांत अन्य शास्त्रों के सिद्धांतों की तरह जटिल और दृढ़ नहीं हैं। ये देश और काल की अवस्था से बदला करते हैं। उनकी सम्मति थी कि भारतवर्ष में नए कारखाने खुलने चाहिएँ, विदेश से माल आना बंद होना चाहिए, और खेती के उन्नत करने में सरकार से सहायता मिलनी चाहिए। औद्योगिक सभाएँ और प्रदर्शनियों की आवश्यकता पर भी रानडे ने बहुत जोर दिया था।

एक निबंध में उन्होंने लिखा है—"हमारी अवस्था शोचनीय है। हमारे देश में खनिज पदार्थों की कमी नहीं है। परमेश्वर ने हमें आर्थिक सामान इतना दिया है जो कभी कम होनेवाला

नहीं, प्रकृति ने हमारे ऊपर हर प्रकार से कृपा की है फिर भी अँग्रेजी राज्य में हमारी आर्थिक अवस्था ऐसी है जैसी न होनी चाहिए। दिन पर दिन अवस्था बिगड़ रही है। सारे देश पर ऐसी घोर दरिद्रता (जो बढ़ रही है) छाई हुई है जैसी कि इतने विस्तार के साथ संसार ने कभी नहीं देखी थी। अच्छी फसिल में गरीबी क्लेश और दारिद्र्य नहीं होता परंतु अच्छी फसिल लगातार नहीं रहती, पहले की अपेक्षा अकाल अधिक होते हैं। देश के किसी न किसी भाग में वर्षा न होने के कारण लोग भूखों मरने लगते हैं। इसके अनेक कारण हैं—(१) समस्त देश में गरीबी का कठिन रूप में दूर तक फैलना और बढ़ता जाना (२) छोटी जातियों में घोर कष्ट का बढ़ता जाना और (३) जनसमूह में आर्थिक कष्ट के रोकने की सामर्थ्य का अभाव"।

लार्ड डफरिन ने भारत से बिदा होने से पहले इस आर्थिक दुर्दशा को दूर करने का उद्योग करने की चेष्टा करने के लिये शिक्षित भारतवासियों को सलाह दी थी। रानडे ने उसी वर्ष कांग्रेसवालों का कलकत्ते के अधिवेशन में इस ओर ध्यान दिलाया। इसके अनंतर उन्होंने मई १८९० में औद्योगिक महासभा की नींव डाली। इस महासभा के पहले अधिवेशन में जो व्याख्यान उन्होंने दिया था वह इस पुस्तक का सातवाँ निबंध है। इसमें उन्होंने लोगों के औद्योगिक कर्त्तव्यों को बतलाया है। सरकारी सहायता के संबंध में उन्होंने यह कहा है—

"हम लोग एक ओर उद्योग करें, दूसरी ओर सरकार हमको बंकों के खोलने में, लेन देन की वसूली में नए उद्योगों के लिये थोड़े ब्याज पर उधार अथवा अन्य प्रकार से धन देकर नए कारखाने खोलने का रास्ता बतलाने में, विदेशियों के यहाँ आने और यहाँवालों के विदेश जाने में, कला कौशल संबंधी पाठशालाओं के खोलने में, आवश्यक सामग्री के इकट्ठा करने में या उसके इस देश में पैदा करने में सहायता कर सकती है।"

A Revenue Manual of the British Empire in India.

सं० १८७७ में इस नाम की पुस्तक रानडे ने प्रकाशित की थी। भारतीय अर्थ संबधी विषयों पर साक्षी लेने के लिये विलायत की पार्लामेंट ने एक कमेटी बैठाई थी। उसके और अन्य सरकारी रिपोर्टों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई थी। इसमें सरकारी आय किन किन विभागों से होती है इस पर बड़ी योग्यता से निबंध लिखा गया है। इसकी प्रशंसा १४ अप्रैल १८७७ के इंग्लिशमैन पत्र, उसी सन के २ अप्रैल के हिंदू पेट्रियट, १० अप्रैल के टाइम्स आव इंडिया आदि पत्रों ने की थी।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त रानडे ने अनेक छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित की थीं जिनके नाम जहाँ तक मालूम हैं लिख देना पर्याप्त होगा—Statistics of Civil Justice in the Bombay

Presidency Statistics of Criminal Justice in the Bombay Presidency. पं० विष्णु परशुराम शास्त्री का संक्षिप्त चरित्र (अंग्रेजी), महाराष्ट्र साहित्य की आलोचना और उन्नति पर तीन पुस्तकें (अंग्रेजी), भारतीय व्यापार पर दो व्याख्यान (महाराष्ट्री) ।

एक ईश्वर को माननेवाले का मत (अंग्रेजी) ।

हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह पर शास्त्रों के प्रमाण (अंग्रेजी) ।

भिन्न भिन्न विषयों पर उनके लेख और व्याख्यान भी छपते रहते थे जिनमें से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं ।

खेतिहर लोगों की अवस्था और उसका सुधार ।

रियासतों की शासन प्रणाली ।

मिस्टर फौसेट के भारतीय अर्थ संबंधी तीन लेखों की समालोचना ।

सर सालार जंग का शासन ।

बंबई प्रांत में हिंदू और मुसलमानों की धार्मिक संस्थाएँ ।

मिस्टर इलियट की 'रूल्स आव बरोदा' पुस्तक की समालोचना ।

Parliamentary Committee on India Public Works.

खेती संबंधी बंक ।

दादा भाई नोरोजी के भारतीय दारिद्रता संबंधी पुस्तक की समालोचना।

प्रारंभिक शिक्षा और देशी पाठशालाएँ।

बंबई प्रांत के जंगलों की रक्षा।

सर जेम्स फर्गसन के शासन की समालोचना।

जबरदस्ती टीका लगवाना।

१८८१ की जनसंख्या की रिपोर्ट।

Decentralization of India Finance.

भारतवासियों की विदेश में कुली प्रथा।

बी-ए, एम-ए लोगों की अधिक मृत्यु के कारण।

यूनिवर्सिटी सुधार।

Butler's Method of Ethics.

मिस्टर वैद्य की पुस्तक की भूमिका।

हिंदुओं में विवाह का समय।

Augustus Mongredien के Free Trade and English Commerce की समालोचना।

सामाजिक विषयों में सरकारी कानून।

राजा राम मोहन राय।

तैलंग School of thought पुनरुद्धार और सुधार।

सौ वर्ष पहले दक्षिणी भारत की अवस्था।

Hindu Protestantism.

मैं न हिंदू हूँ न मुसलमान।

कांग्रेस और कानफरेंस।

वशिष्ठ और विश्वामित्र।

इनमें से अनेक लेखों को अब धीरे धीरे पुस्तक रूप में छापने का प्रबंध हो रहा है।

इन लेखों में रानडे के विचार-रत्न मिलते हैं। उनमें अद्वितीय भाषा-लावण्य और ओज है। सब लेख समयानुकूल हैं और उनमें देश हितकारी चर्चा है।

(१२) स्वभाव और चरित्र।

रानडे का स्वभाव सात्विक था। धैर्य, क्षमा, निस्पृहता इत्यादि गुणों की वे खान थे परंतु इसके साथ ही असहाय के साथ सहानुभूति, रात दिन परिश्रम करने की बात इत्यादि गुण भी उनमें थे। भारतवासी आज कल अच्छा आदमी प्रायः उसी को समझते हैं जो दुनिया की झंझटों से अपने को दूर रक्खे, जो हर एक की हाँ में हाँ मिला दे, जो अन्याय और अत्याचार देख कर भी विचलित न हो, जो परंपरागत प्रणाली में अपने को डाल दे और इस बात पर बिचार न करे कि इस प्रणाली में क्या दोष है। हमारे देश में जो विद्वान हैं वे पठन-पाठन ही में जीवन बिता देते हैं। यदि किसी ने बहुत चेष्टा तो दो एक सभा सोसाइटी में आ कर उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण कर लिया। इसके विपरीत जो लोग देश-हित के कामों में लगे रहते हैं उन्हें पढ़ने-लिखने का समय ही नहीं मिलता।

जो एक सभा में काम करता है उसको सब सभावाले अपनी तरफ खींचते हैं। इसका परिणाम यह है कि जो विचारशील हैं उनमें उद्योग का अभाव है और जो उद्योगी हैं वे मननशील नहीं हैं। रानडे उन थोड़े भारतवासियों में से थे जिनमें विद्वानों के गुणों अर्थात् विद्याभिरुचि, पितृभक्ति, ईश्वर में अगाध विश्वास और गंभीरता के साथ कार्य-कुशलता, देशहित और परिश्रमादि गुण भी थे।

ईश्वर भक्ति।

रानड़े तीन चार बजे प्रातःकाल उठ जाते और उसी समय अपनी धर्मपत्नी को भी उठा देते। रमाबाई कोई पुस्तक लेकर श्लोक तथा पदादि पढ़ने लगतीं। रमाबाई लिखती हैं—"आप कभी कभी गद्गद हो कर चुटकी या ताली बजाने लगते। प्रातः काल के उजाले में, आपका भक्तिपूर्ण मुख बहुत ही मनोहर मालूम होता और आपके प्रति आप ही आप प्रेम और पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती। मेरे मन में आता कि मैं अपने संबंध और सांसारिक दृष्टि ही से यह सब देख रही हूँ तो भी यहाँ सामर्थ्य और दैवी भाग अधिक हैं परंतु मेरे ये विचार अधिक समय तक न ठहरते। इस विषय में आपसे पूछने के लिये मैं सिर उठाती पर ज्योंही आप से मेरी दृष्टि मिलती त्योंही मेरे सारे विचार बालू की भीति के समान ढह जाते।"

यह तो नित्य की बात थी। ताली और चुटकी बजा कर

तुकाराम के अभंगों का भजन करते करते कभी मुँह का उच्चारण बंद हो जाता, आँख से आँसुओं की धारा बहने लगती, यह भी ध्यान न रहता कि भजन के दोनों चरणों की तुक भी मिलती है या नहीं। जिस समय मन की स्थिति जैसी होती उस समय वे वैसे ही अभंग कहते। रमाबाई लिखती हैं—"मैं कभी कभी कहती—'इन सब नवीन अभंगों की एक पुस्तक बनानी चाहिए। कल्याण शिष्य की तरह मैं भी ये सब अभंग लिख डालूँ तो अच्छा हो।' इस पर उत्तर मिलता—"हम भोले आदमी ठहरे। यमक और ताल सुर का न तो हमें ज्ञान है और न उसकी आवश्यकता ही है। जिससे हम यह सब कहते हैं वह सब समझता है। उसका ध्यान इन सब ऊपरी बातों की ओर नहीं जाता।" रानडे की इस समय की अवस्था देख कर बड़े बड़े लोग गद्गद हो जाते थे। गोखले कहते हैं—"१८९७ की अमरावती कांग्रेस से लौटते हुए रेल के कमरे में केवल रानडे और मैं था। ४ बजे प्रातःकाल गाने की आवाज सुनकर यकायक मेरी नींद खुली। मैंने देखा कि रानडे उठ कर बैठे हैं और तुकाराम के दो अभंगों को ताली बजा बजा कर बार बार गा रहे हैं। गला तो अच्छा था नहीं परंतु जिस प्रेम से वे गा रहे थे, वह इतना अधिक था कि मैं भी गद्गद हो गया जिससे मुझे भी उठकर बैठ जाना पड़ा। जो अभंग वे गा रहे थे, वे ये थे—

जे कां रंजले गांजले। त्यासी ह्मणे जो आपुले।
तोचि साधू ओलखावा। देव तेथेंचि जाणावा॥

करिं मस्तक ठेंगणा। लागें संतांच्या चरणा।
जरि ह्वावा तुज देव। तरि हा सुलभ उपाय॥

"जब मैं बैठा हुआ इन भजनों को सुन रहा था मेरा मन रानडे के जीवन की ओर गया। मैंने सोचा कि जो उपदेश इन भजनों में है उस पर चलने की रानडे किस प्रकार निरंतर चेष्टा करते हैं और इस उपदेश से कितनी साधारण और फिर भी कितनी उच्च शिक्षा जीवन के नियम संबंधी मिलती है। मेरे जीवन में यह अनमोल क्षण था। वह दृश्य मेरी स्मृति से कभी दूर नहीं होगा।"

प्रार्थना समाज में आप कभी कभी उपासना कराते थे। रमाबाई लिखती हैं—"आपकी उपासना इतनी गंभीर, भावपूर्ण और प्रेममयी होती थी कि सुननेवाला उसे सुनकर धन्य धन्य कह उठता था। उतनी देर के लिये शरीर की सुधि भूल कर ऐसा मालूम होता था मानो आप प्रत्यक्ष देवता से बोल रहे हैं और वह सब बातें सुन रहा है। कभी कभी शांत और भक्तिपूर्ण भाव के कारण आपके मुख पर इतना तेज आ जाता था कि मैं कई मिनटों तक पागलों की तरह टकटकी लगाकर आपके मुख की ओर देखती रह जाती थी। कभी कभी यह विचार कर कि देखनेवाले लोग क्या कहेंगे, थोड़ी देर के लिये दृष्टि नीचे हो जाती, परंतु फिर तुरंत आप ही आप वह अपने पूर्व कृत्य में लग जाती।" ये एक सच्ची स्त्री के सच्चे वाक्य हैं। पति-व्रता रमाबाई आगे लिखती हैं—"अब तक इस पूर्ण निराशा

की अवस्था में (रानडे की मृत्यु के उपरांत) भी जब कभी वह समय और सुख याद आ जाता है, तब अपनी वर्त्तमान दीनावस्था भूल कर उसी समय का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और क्षण भर आनंद मिल जाता है, बहुत देर तक उसी मूर्ति का ध्यान और चिंतन होता रहता है और यदि किसी कारणवश उसमें कभी विघ्न हो जाय तो उस दिन मन को चैन नहीं मिलता।"

उपासना आप प्रायः मराठी भाषा में कराया करते थे। आप सर्वदा चेष्टा करते थे कि भाषा सरल हो और भाव सब के समझने योग्य हों। उपासना के बाद कभी कभी वे रमाबाई से पूछते कि आज तुमने क्या समझा। यदि उस दिन का विषय गूढ़ होता और वे न समझतीं तो कह देतीं। तब आप कहते "आज की उपासना ठीक नहीं हुई, हमने यह समझ रक्खा है जो उपासना तुम्हारी समझ में आ जाय वही अच्छी हुई और जिसे तुम न समझ सको वह दुर्बोध हुई।"

इन उपासनाओं में प्रायः आप तुकाराम, नामदेव इत्यादि का कोई पद ले लेते थे और उसकी व्याख्या करते थे। बहुत अच्छा हो यदि वर्त्तमान सुधार सभाओं के हिंदी भाषाभाषी नेता भी सूर और तुलसी, कबीर और नानक के पदों के आश्रय पर अपने भक्तिपूर्ण विचार प्रगट किया करें। यदि ऐसा हो तो उनकी उपासनाएँ ऐसी निरस न हुआ करें जैसी वे बहुधा होती हैं। तुकाराम ने कहा है "मेरी मृत्यु को मौत आ गई और

इससे मैं अमर हो गया।" एक दिन का आपका विषय यही था। मृत्यु क्या है, आपने उसमें कहा था—"एक मृत्यु वह है जिसमें हम मर जाते हैं और एक वह जिसमें मृत्यु तो मरजाती है और हम जीवित रहते हैं। वह संत जो ईश्वर आराधना अथवा उपदेश करने में अपने शारीरिक अस्तित्व को भूल जाता है और जिसकी आत्मा तेजोमयी हो जाती है; वह विद्यानुरागी जो अध्ययन में अपने को भूल जाता है और जो कुछ वह अनुभव करता है वह केवल उस विषय की स्थिति और उत्तेजना है जिसपर वह मनन करता है; वह पुरुष जो किसी महान् कार्य के करने पर कटिबद्ध होता है और शारीरिक वेदनाओं के मध्य में भी अपने कष्ट को भूलकर कर्त्तव्य पालन करता चलता है और सर्वदा उसको अपने काम की ही धुन रहती है; ऐसे लोगों में मृत्यु ही मरती है परंतु वे जीवित रहते हैं। यह साधारण विश्वास कि शरीर छूट जाने को ही मृत्यु कहते हैं, मौत का सच्चा ख्याल नहीं है। हमारी मौत उसी क्षण आ जाती है जब हम हर समय शरीर और उसकी वासनाओं पर ध्यान रखने और नीच स्वार्थी जीवन निर्वाह करने लगते हैं।"

ईश्वरभक्ति बड़ी कठिन है। केवल शब्दों में ईश्वर को मानने से कोई पुरुष आस्तिक नहीं कहा जा सकता। भक्ति का प्रादुर्भाव मनुष्य जीवन में होना चाहिए। परंतु भक्ति रस में रँगे हुए वे महात्मा भी हैं जो ईश्वर पर तो दृढ़ और सच्चा विश्वास रखते हैं पर मनुष्य समाज का वे विश्वास नहीं करते। हर एक

युग में ऐसे सिद्ध पुरुष होते हैं जिनका जीवन तो पवित्र होता है परंतु जिन्हें संसार की कमजोरियों के कारण दुःख होता है। इस लिये वे सब से अलग होकर विरक्त हो जाते हैं। उन्हें संसार मिथ्या मालूम होता है और वे उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य-समाज से वे दूर रहते हैं और उन्हें सामाजिक व्यवहारों में कुछ अनुराग नहीं रहता। परंतु रानडे की मानसिक वृत्ति इस प्रकार की नहीं थी। प्रार्थना समाज की एक उपासना में उन्होंने एक वेर कहा था—"कुछ लोगों का विश्वास है कि इस जीवन से पूर्व कोई जीवन नहीं था और इस जीवन के अनंतर भी कोई जीवन नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि संसार में यदि कोई बात अनादि है तो वह यह है कि हमारे पश्चात् हमारे वंशज मनुष्य संसार में रहेंगे, इसके अतिरिक्त कोई अनाशवान् जीवन नहीं है। दोनों में से कोई सिद्धांत भी संतोषजनक नहीं है। जब हम भोजन माँगते हैं दोनों हमें पाषाण देते हैं। हमें संतोष एक तीसरे ही सिद्धांत से मिलना चाहिए अर्थात् यहाँ अथवा आनेवाले जीवन में हमारे भाग में सुख ही सुख है परंतु यह तबही हो सकता है जब हम अपने को अनाशवान् प्रकृति के मनुष्य मान कर कार्य करें।" आगे चल कर उन्होंने उदाहरण स्वरूप अपने विश्वास को इस प्रकार स्पष्ट किया—"अभी थोड़े दिन हुए मैं भारत के उत्तरीय भाग में था। गंगाजी के तट पर खड़ा हुआ नदी के गौरवान्वित बहाव को देखकर मानों समाधि की अवस्था में आ गया। मैं

इतना गद्गद् हो गया, मेरा हृदय इतना प्रफुल्लित हो गया कि विवश मेरे मुँह से यह निकला—"धन्य है यह भारतभूमि।" उसी समय मेरे चित्त में यह विचार आया—'क्या गंगा अनादि हैं? किसी दिन यह भी लुप्त हो जाय।' मैंने मन ही मन इस प्रकार की तर्कना की—'नहीं, हमारे सामने जल के परमाणु एक दूसरे से अलग हो जाँय और नाश हो जाँय परंतु बहाव इसी प्रकार रहेगा जिस प्रकार गत अनेक शताब्दियों से चला आया है। हमारे लिये कितनी बड़ी यह शिक्षा है। हम व्यक्ति गण समाज के परमाणु हैं और अवश्य लुप्त हो जाँयगे परंतु समाज रहेगा, इसका बहाव श्रीगंगा जी की तरह अनादि है। हमारा, जो प्रत्येक पीढ़ी के व्यक्ति गण है, यह धर्म है कि इस बहाव के गौरवान्वित करने में भाग लें।"

पितृभक्ति और वृद्ध सम्मान।

रानडे की माता का देहांत उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनके पिता उनकी ३५ वर्ष की अवस्था तक जीवित थे। ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती वे उनका अधिक आदर करते थे। सब-जज होने पर भी पहले की नाईं पिता को देख कर वे खड़े हो जाते थे। यथासाध्य उनकी बात कभी नहीं काटते थे। जब तक वे जीते रहे उन्हीं को घर का मालिक समझते रहे। उनके पिता २५०) मासिक पाते थे, परंतु तीन सगे और दो रिश्ते के भाइयों के परिवारों का पालन पोषण, विवाहादि का सब व्यय वे ही करते थे, इसलिये वे ऋणी हो

गए थे। रानडे सदराला होते ही उनको १५०) मासिक भेजने लगे। इसी समय रानडे ने एक मकान खरीदा। इनके कुटुंब में यह पहली जायदाद थी। इसलिये इनके पिता बहुत प्रसन्न हुए। बैनामे का मसविदा इनके पिता ने तैयार कराया और रानडे के पास देखने के लिये भेज दिया। आपने उस पर पेंसिल से लिख दिया—"मसविदा ठीक है परंतु मेरी इच्छा है कि बैनामे में मेरे स्थान पर आपका नाम रहे।" उनके पिता ने बहुत समझाया, कहा कि—"जगदंबा की कृपा से तुम्हीं ने हमारे कुल में यह स्थावर संपत्ति पहले पहल प्राप्त की है, इसलिये इसमें तुम्हारा ही नाम रहेगा।" रानडे ने कहा—"मैंने इसपर बहुत विचार किया है। आपके नाम से खरीद होने में अधिक शोभा है।" अंत में उनके पिता ने मकान अपने ही नाम खरीदा।

पिता के रोगग्रस्त होने पर आप उनकी बड़ी सेवा करते। मृत्यु के दो वर्ष पहले से वे कोल्हापुर में रहते थे। इस बीच में वे कई बेर बीमार हुए। रानडे ने एक बेर एक महीने की छुट्टी लेकर उनकी सेवा सुश्रूषा की। कुछ महीनों के बाद जब वे बहुत बीमार पड़े तब रानडे ने फिर दो महीने की छुट्टी ली। इस बेर उनके पिता की अवस्था बहुत खराब थी। छुट्टी बढ़वाने के लिये उन्हें पूना जो उन दिनों टाँगे से ३६ घंटा का रास्ता था जाना आवश्यक था। जब वे पूना जाने लगे तब उनके पिता बच्चों के समान रोने लगे। परंतु डाक्टरों के आश्वासन

देने पर उन्होंने इनको जाने दिया। चलते समय उन्होंने इनका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"यद्यपि डाक्टर साहब ने मुझे आशा दिलाई है तौ भी मुझे अपने जीवन का अब भरोसा नहीं है, इसलिये शीघ्र लौट आना, नहीं तो भेंट न होगी। अब गृहस्थी का सारा भार तुम्ही पर है।"

रानडे का उत्तर भारत-संतान के लिये अनुकरणीय है। उन्होंने कहा—"आप किसी प्रकार की चिंता न करें। मैं कभी पुत्रधर्म न छोड़ूँगा।"

इस वचन को उन्होंने सारी उम्र निबाहा। यद्यपि वे पिता की मृत्यु के समय न पहुँच सके पर गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेकर सुधार के कार्य में कठिनाइयाँ उपस्थित कर लीं। उन्होंने अपने पिता का कई हजार का ऋण देकर सौतेली माँ, अपनी बहिन और भाइयों को बुलवा भेजा और सबको साथ रखने लगे। वे सौतेली माता का भी उतना ही आदर करते जितना अपनी जननी का करना चाहिए। बड़ी बहिन दुर्गा तक की बात कभी नहीं काटते थे। घर में कभी कोई बात ऐसी न करते जिससे घरवालों को यह मालूम हो कि वे घर के बड़े हैं और उन्हीं के कारण गृहस्थी चलती है। यदि मतभेद की कोई बात हो तो उसपर बहस नहीं करते थे। अपना कर्त्तव्य अपने सिद्धांतों के अनुकूल पालन करने की चेष्टा किया करते थे। रमाबाई को भी उसी प्रकार करने का परामर्श किया करते परंतु किसी पर औरँगजेबी नहीं चलाते थे। पितृभक्ति और मातृ-

भक्ति के कारण कई बेर कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती थीं जिनके दो एक उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

दक्षिण में पंडित विष्णु शास्त्री पुनर्विवाह के समर्थक थे। उन्होंने स्वयं अपना विवाह विधवा से किया था। उसी समय वे रानडे से मिलने आए। रानडे ने उनको सायंकाल भोजन करने के लिये निमंत्रित किया। कचहरी जाने से पहले वे अपनी बहन से भोजनादि का प्रबंध करने के लिये कह गए। उन दिनों उनके पिता जीवित थे। १२ बजे तक वे संध्या, ब्रह्मयज्ञ, जप, स्तोत्रपाठादि से निश्चित हुआ करते थे। १२ बजे के पीछे जब उनको मालूम हुआ कि विधवाविवाह प्रवर्त्तक उनके घर पर पदार्पण करेंगे तो उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—'भोजन तो तुम बना देना पर परोसने न जाना।' नियत समय पर अतिथि आकर भोजन कर गए। उनके पिता जान बूझ कर ११ बजे रात को आए और बिना भोजन किए ही सो गए। दूसरे दिन सवेरे ही घर गृहस्थी लेकर वे डेरा डंडा उठाने की तैयारी करने लगे। जब रानडे ने यह सब हाल सुना तब वे सवेरे ही अपने पिता के सामने जा कर चुपचाप एक खंभे से लग कर खड़े हो गए। एक घंटा इसी प्रकार हो गया परंतु दोनों में बात चीत नहीं हुई। तब उनके पिता ने उनको बैठ जाने के लिये कहा। उन्होंने उत्तर दिया—"यदि आप यहाँ से चले जाने का विचार छोड़ दें तो मैं बैठ जाऊँ। यदि आप लोग चले जाँयगे तो मेरा यहाँ कौन है? मैं भी आप लोगों के साथ ही चलूँगा। यदि मुझे

मालूम होता कि कल की बात के लिये आप इतना क्रोध करेंगे तो मैं कदापि ऐसा न करता।" इसी प्रकार बात चीत हो ही रही थी कि इतने में दर्वाजे पर इन लोगों को ले जाने के लिये गाड़ी आ कर खड़ी हो गई। इसपर रानडे ने दुःखी हो कर कहा—"अंत में आप लोगों का जाना निश्चय हो गया। आप लोग मुझे यहाँ छोड़ कर चले जाँयगे। जिस दिन मेरी माता मरीं उस दिन मैं अनाथ हो गया।" यह कह कर आप ऊपर चले गए। उनके पिता ने फिर सोच समझ कर जाने का विचार परित्याग कर दिया।

इसी तरह एक दिन सौतेली माँ से भी क्लेश की नौबत आ गई थी। एक विद्यार्थी जिसकी ये सहायता किया करते थे और जो दूकानदारों को सौदे इत्यादि का रुपया देने जाता था, व्यापारियों को रुपया देने के बदले आप खा गया। दशहरे का दिन.था। उनकी माँ और बहन ने सोचा था कि यह बात उनसे भोजन के उपरांत कही जाय। परंतु रमाबाई ने बिना बिचारे इस बात को उनसे पहले ही कह दिया। इस पर उनकी बहन रमाबाई पर बहुत बिगड़ीं और उनकी माँ ने कहा—"अब तक तो इसको चुगली की आदत नहीं थी, नित्य नया गुण निकलता आता है। सभा में यह जाय, अँग्रेजी यह पढ़े, घर में आने जानेवाले लोग इसे अच्छे न लगें, मेम बन कर कुर्सी पर बैठी रहे। दिन पर दिन घर की मालकिन बनी जाती है, परंतु जब तक हम हैं तब तक इसकी तो न चलने देंगे। इस तरह

चुगली होने लगी तो घर के लोगों का ठिकाना कहाँ। विद्यार्थी ने चोरी की तो हमारा नुकसान हुआ। क्या इसके बाप को डाँड़ भरना पड़ता ?"

रानडे ने अंतिम बात सुनकर कहा—"वह हम से न कहती तो किस से कहती ?"

इस पर उनकी सौतेली माँ ने बिगड़ कर कहा-"घरवाली को बैठाकर उसकी पूजा तुम्हीं करो, तुम समझते होगे कि अंग्रेजी पढ़कर हम लायक हुए हैं, परंतु यह कोई लियाकत नहीं है। अगर हम लोग अच्छे न लगते हों तो घरवाली का पक्ष लेकर हमारा अपमान मत करो, सीधी तरह से कह दो, हम घर से चली जाँय।"

इस समय रानडे को भी क्रोध आ गया था। उनके मुँह से निकल ही तो गया—"तो नाहीं कौन करता है ?"

परंतु थोड़ी ही देर में वे पछताने लगे और कहने लगे—"घर में तुम्हीं बड़ी हो, जिससे जो चाहे कहो। यदि मुझ से भी किसी समय भूल हो जाय तो तुम मेरा कान पकड़ सकती हो। तुम चाहे जो कहो, इतना जरूर जाँच लो कि असल बात क्या है। असावधानी से मेरे मुँह से जो बात निकल गई उसके लिये मैं तुम से क्षमा माँगता हूँ।"

क्षमा माँगने पर इनकी माँ तो शांत हो गई परंतु इनको अपने शब्दों पर बहुत दिनों तक दुःख रहा, यहाँ तक कि एक

पत्र उन्होंने अपने भाई और बहिन को लिखा उसमें अपनी इस भूल का भी जिक्र किया।

माता पिता के अतिरिक्त घर के सब वृद्ध लोगों का आप यथोचित समादर करते थे। अपने चाचा विट्ठल काका को जिन्होंने रानडे को तीन वर्ष की अवस्था में बैल गाड़ी से गिर जाने पर उठाया था, उनकी वृद्धावस्था में उन्होंने अपने यहाँ रक्खा। विट्ठल काका ने १५ वर्ष में पैदल सारे भारतवर्ष के तीर्थों में पर्यटन किया था। वे मिजाज के बड़े कड़े थे। भक्ति-मार्ग में इनका मन बहुत लगता था। वे अपनी कोठरी में सदा बैठे रहते और केवल स्नान और भोजन के लिये बाहर आते। कोठरी में बैठे कभी रोने लगते, कभी चिल्लाने। क्रोध में आकर भगवान् से कहते—"तुम दयालु तो हो, पर मिलते क्यों नहीं।" कभी रोते रोते हिचकी बँध जाती। इनकी भक्ति की बातें लोग कोठरी के बाहर खड़े होकर सुना करते। कभी कभी सुनने-वालों की आँख में भी आँसू आ जाते। रानडे इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

विद्याभिरुचि और परिश्रम।

रानडे को पुस्तकें बड़ी प्यारी थीं। नामदेव के पदों की पुस्तक को तो आप बड़ी अवस्था में भी उठाकर आँखों से लगा लेते थे। बी० ए० (आनरस) और एल-एल० बी० परीक्षा के लिये जो बाहरी पुस्तकें उन्होंने पढ़ी थीं उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। हमारे बी० ए० के विद्यार्थी प्रायः सभी

आजकल अपने कोर्स की पुस्तकों से ही छुट्टी नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि पुस्तकों से अनुराग बी० ए० और एम० ए० पास होने पर भी उनमें नहीं रहता। रानडे ने इतिहास के ग्रंथ जो उस समय पढ़े थे ऐसे महत्त्व के हैं कि वे अब तक आदर से पढ़े जाते हैं। उदाहरण के लिये मेकाले का इतिहास, हैलम की कंस्टीट्यूशनल हिस्ट्री और मिडिल एजेज, गुजो का रेवाल्यूशन। अर्थशास्त्र के ग्रंथों में उस समय आपने मिल, रेकार्डो, स्मिथ, मैलथूस इत्यादि के ग्रंथ पढ़ लिए थे। उनमें से मिल की पुस्तक को दो बेर ध्यानपूर्वक और एक बेर सरसरी तरह से पढ़ा था। इसी तरह कानून की भी अनेक किताबें पढ़ उनकी एक रिपोर्ट जो दक्षिणा फेलो को देनी पड़ती थी, दी थी। उसमें आपने लिखा था—"यह सूची मैं आत्मश्लाघा के भाव से नहीं भेजता, इसमें मेरा उद्देश्य केवल यही है कि जो लोग हम लोगों से अनुराग रखते हैं वे यह जान लें कि हम लोगों ने अपनी वर्तमान स्थिति के कर्त्तव्यों का पालन किया है।"

कहा जाता है कि जब वे एलफिंसटन कालेज में अध्यापक थे, उन्हें इतिहास पढ़ाने का काम दिया गया। इस काम को भली प्रकार करने के लिये उन्होंने धीरे धीरे कालेज के पुस्तकालय की प्रायः सब इतिहास की पुस्तकें पढ़ डालीं। इससे ये अपने छात्रों को खोज की हुई नई बातें बतलाने लगे, यहाँ तक कभी कभी इनके प्रिंसिपल साहब मि० चटफील्ड इनकी पढ़ाई देखने आते। इनकी आँखों में हमेशा थोड़ी बहुत तकलीफ

रहती। जब तकलीफ़ बढ़ जाती तब दूसरे लोग पुस्तकें पढ़ कर सुनाते। पर पढ़ना बराबर जारी रहता। स्वाध्याय उनका नियमबद्ध होता। जिस पुस्तक को एक बेर पढ़ कर वे उपयोगी समझते उसका साराँश लिख डालते। इस सारांश को वे बहुत सुरक्षित रखते। इस आदत को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनकी स्मरण शक्ति तो अच्छी थी ही उस पर लिख डालने से सिद्ध लेखकों के ग्रंथों के विचार उनको सदा के लिये याद हो जाते। ग्रंथ भी वे उच्च श्रेणी के पढ़ते थे। इससे उनकी लेख शैली भी बड़ी उत्तम हो गई। कहा जाता है कि वे एलिसन का वर्तमान युरोप का इतिहास अपनी छात्रावस्था में बहुत पढ़ा करते थे और उनकी लेखन शैली पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

रानडे बड़े वक्ता नहीं थे, परंतु उनके व्याख्यानों में धार्मिक ओज़, तार्किक विवेचना और प्रौढ़ विचार होते थे जिनको सुनने से मालूम होता था कि इन्होंने पढ़ा बहुत है और व्याख्यान तैयार करने में परिश्रम किया है। अधिक पढ़ने के कारण उनकी बातचीत में भी रस रहता था। प्रायः सब विषयों की पुस्तकें वे पढ़ा करते थे। अँग्रेजी और मराठी साहित्य, इतिहास, दर्शन शास्त्र, अर्थ शास्त्र और राजनीति से उनको विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी और मराठी पत्र और पत्रिकाएँ भी वे बराबर पढ़ा करते। १८९९ की लखनऊ कांग्रेस के समय एडवोकेट लायब्रेरी की स्थापना की गई थी। इस

समय आपने अपने व्याख्यान में बतलाया था कि समाचार पत्र बहुत नहीं पढ़ने चाहिएँ। लंडन के साप्ताहिक पत्र "सैटर्डे रिव्यू" की आपने बड़ी प्रशंसा की थी और कहा था कि मैं उसको सदा उत्साह के साथ पढ़ता हूँ।

रानडे के पढ़ने लिखने के समय कोई चला जाता तो वे खिन्न नहीं होते थे। कभी कभी तो उनको पता भी नहीं लगता था कि कौन आया। यदि उनके चारों तरफ बच्चे शोर मचाते अथवा लोग बात चीत करते तो भी वे अपना काम जारी रखते। उनके पास हर समय विशेष कर छुट्टी वाले दिन हर प्रकार के लोग आते जाते रहते थे। कभी किसी से मिलने से वे इनकार नहीं करते थे। यदि कोई विचारवान् पुरुष आता तो वे उससे भिन्न भिन्न विषयों पर बात चीत करते, परंतु कभी कभी ऐसे लोग भी पहुँच जाते जिनके मिलने से समय नष्ट होता और जो जल्दी जाने का नाम नहीं लेते। हमारे देश में तो यह साधारण बात है। काम हो या न हो जो जब चाहता है मिलने चला आता है। आनेवाला अपना सुभीता देखता है, जिससे मिलना चाहता है उसके काम काज अथवा आराम का कुछ भी ध्यान नहीं, जब तक जी चाहता है, बैठता है। पहले से समय निश्चय करके मिलना हमारे यहाँ अमीरी आदत समझते हैं। केवल राजा महाराजाओं के साथ ऐसा किया जाता है। साधारण स्थिति के पुरुषों के यहाँ, चाहे वे विद्वता, देश-हितैषिता आदि गुणों के कारण असाधारण योग्यता के पुरुष

हों, मिलने जाने से पहले पत्र लिखना लोग उचित नहीं समझते। यह इसी का परिणाम है कि हमारे देशोपकारक लोग सदा विद्दित से रहते हैं। उनकी शारीरिक अवस्था हीन रहती है और उनमें से अधिकांश असामयिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस देश में विद्वता और देशहितैषिता का मूल्य अपना जीवन है। सो कर उठे और मिलनेवालों ने आना शुरू कर दिया। जब लोग सिर पर सवार रहते हैं तब वे बेचारे अपना स्नान, भोजनादि का काम झटपट समाप्त कर तैयार हो जाते हैं। यदि किसी से कह दें कि इस समय अवकाश नहीं है, बस वह बुरा मान जाय, उनको अभिमानी समझने लगे, एक दोष से अनेक दोष लगने लगें।

यदि रानडे केवल हाईकोर्ट के जज होते, तो उनसे कोई मिलने न जाता; यदि कोई जाता भी तो दर्वाजे पर चपरासी नाम धाम पूछकर उनकी इत्तिला करता। पर रानडे के जीवन के कार्य में हाईकोर्ट की जजी का पहला स्थान नहीं था। इस लिये उनके घर पर बड़े सवेरे से लेकर रात को सोने के समय तक मिलनेवालों के लिये दर्वाजा खुला रहता परंतु रानडे का अपना काम जारी रहता। कभी कभी एक ही समय में भीड़ लग जाती। पर जैसे लोग आते जाते उनसे वैसी ही बातें होतीं। जो लोग जिस योग्यता के होते उनसे वैसी ही मान मर्यादा के साथ वे मिलते। साधारण लोगों से भी उनकी जाति गाँव इत्यादि का हाल पूछकर कुछ सुधार की सलाह देते, कोई

नई संस्था स्थापित करने के लिये कहते। उनका कुछ प्रभाव भी ऐसा पड़ता था कि जिनको वे सलाह देते उनमें से अनेक बतलाए हुए काम पर लग भी जाते। रमाबाई लिखती हैं कि लोगों के चले जाने पर कभी कभी मैं पूछती—"आज किन किन लोगों पर कौन कौन काम लादे गए।"

यदि किसी मिलनेवाले से उनका समय नष्ट होने लगता तो उसको वे कोई काम करने का दे देते। सामने से कोई पुस्तक उसके योग्यतानुसार उठाकर उसको दे देते और कहते कि अमुक अध्याय का कृपाकर सारांश लिख दीजिए अथवा मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से विवाहित, अविवाहित स्त्री-पुरुषों की संख्या इत्यादि निकालने की प्रार्थना करते। उनके कहने पर लोग उस समय काम करने लगते, पर फिर कभी उनके यहाँ न जाते। दो एक यदि इस काम को ठीक ठीक कर देते तो वे उनकी प्रशंसा के पात्र बन जाते। टहलने जाने के समय कोई आ जाता तो उसको साथ ले जाते। कभी कभी उनके साथ मिलनेवालों की भीड़ भी चलती परंतु उनके तेज चलने के सबब से बहुत से लोग उनका साथ नहीं दे सकते थे, इस लिये वे टहलने का समय बचा कर आते थे। टहलते समय भी वे अपने विचार में निमग्न रहते थे। कभी कभी मालूम होता था कि शरीर तो चल रहा है पर उनका मन अंतरात्मा से बातें कर रहा है। कोई बात छेड़ देते—"गुरु रामदास ने कहा है कि महाराष्ट्र धर्म की रक्षा करो। यह महाराष्ट्र धर्म अन्य

हिंदुओं के धर्म से किस अंश में विपरीत है। इससे गुरु रामदास का क्या अभिप्राय था। क्या आप लोगों ने इस पर सोचा है?" किसी मित्र ने कहा—"नहीं, हमने तो नहीं सोचा। हम आपका विचार जानना चाहते हैं।" इस पर रानडे ऐसे विचारसागर में डूब जाते कि लोग उनका मुख देखते चलते और शांत रहते। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपने 'महाराष्ट्र अभ्युदय के इतिहास' में दिया है।

सर नारायण चंदावरकर लिखते हैं कि एक बार मैं उनके साथ टहलने निकला तो अनेक विषयों पर बातें हुईं। उन्हीं दिनों समाचारपत्रों में बाढ़ से कई गावों के नाश हो जाने का समाचार छपा था। रानडे ने पूछा—"ईश्वर न्यायकारी है, इस सिद्धांत से हम ऐसी घटनाओं का क्या उत्तर दे सकते हैं। इन घटनाओं के द्वारा परमेश्वर उपकार की इच्छा का क्या परिचय देता है?" इस प्रकार प्रश्न करके वे चुप हो गए और सोच में पड़ गए। घर लौटने तक वे कुछ न बोले। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने एक मित्र को इस प्रकार दिया था—"पूना स्टेशन से पूर्ववाले पुल पर खड़े हो कर देखने से इतनी रेल की लाइनें दिखलाई देती हैं और एक लाइन दूसरी लाइन पर से इस तरह चली गई है कि पता ही नहीं लगता कि किस लाइन पर जाने से रेल ठीक स्थान पर पहुँचेगी, हम समझते हैं कि झंडी दिखलानेवाला भी घबरा जाता होगा कि किस गाड़ी को किस लाइन पर भेजें। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है।

क्योंकि झंडीवाला जब जाल के समान लाइनों को अच्छी तरह समझ लेता है तब वह बिना भूल किए गाड़ियों को ठीक वही पथ दिखलाता है जहाँ उन्हें जाना है। उसी प्रकार यदि हम इस सांसारिक प्रक्रिया के प्रत्येक अंग को समझ सकें तो हमें मालूम हो कि संसार के एक भाग में दुर्घटनाओं का होना संपूर्ण संसार के उपकार के विरुद्ध नहीं है और विश्वव्यापी नियमों के उद्‌घटन में ऐसी घटनाओं का, जिन्हें हम भूलकर विपद् मान लेते हैं, मानों ये सब परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल हैं, होना आवश्यक है।"

इन उदाहरणों से रानडे की एकाग्रचित्तता का परिचय मिलता है। बहुत से लोग गुल गपाड़े में बिलकुल लिख पढ़ नहीं सकते। रानडे ऐसी अवस्था में लिखने पढ़ने के अतिरिक्त सोच भी सकते थे। पर ऐसा मस्तिष्क ईश्वरीय देन है। तिस पर भी मिलनेवालों की भीड़ और शोर गुल के बीच काम करने का प्रभाव उनके मन और शरीर पर पढ़ता ही था जिसके कारण उनका स्वभाव बिगड़ने लगता। उनका शरीर बलवान् था पर वे कई बेर इन्हीं असुविधाओं के कारण बहुत बीमार हुए। वे यदि चाहते तो ये असुविधाएँ दूर हो सकती थीं।

रानडे का समय कभी नष्ट न जाता। वे सदा किसी न किसी काम में लगे रहते। काम करने का उन्हें एक प्रकार नशा सा था। एक मित्र ने उनकी प्रशंसा में कहा कि "आपको सदा परिश्रम करने की बान पड़ गई है।" उन्होंने उसपर हँसते हुए

कहा कि—" 'बान' तक तो ठीक था अब तो यह असाध्य रोग लग गया है।"

प्रातःकाल चार बजे से पहले आप उठ जाते थे और उठते ही तुकाराम के अभंगों को गाने लगते। फिर संस्कृत के कुछ श्लोक, स्तोत्र आदि पढ़कर नित्य कार्यों से निवृत्त हो छः बजे अपना कार्य आरंभ कर देते। दौरे के दिनों में इसी समय चल देते और आठ नौ बजे तक दूसरे पड़ाव पर पहुँच जाते। जब काम शुरू होता तब पहले दैनिक पत्रों के तार पढ़ते और डाक देखते। फिर लिखना शुरू करते और सिर नीचा किए बराबर लिखते चलते, कभी कभी विश्राम के लिये सिर ऊपर कर लेते या एकाध श्लोक या पद कह कर फिर काम में लग जाते। इसी बीच में रमाबाई आज्ञानुसार पत्रों का उत्तर लिख रखतीं, उनको सुनकर अपने हस्ताक्षर कर देते। फिर भोजनोपरांत कचहरी जाते। ११ से ५ तक वहाँ रहते। बीच में थोड़ी देर के लिये जलपान करने उठते। कचहरी से पैदल घर आते, गाड़ी साथ रहती। घर आकर फिर डाक देखते। चिट्ठियों के उत्तर जहाँ तक बन पड़ता उसी दिन देते। प्रायः प्रत्येक प्रांत से उनके पास पत्र जाते थे। कभी कभी दैनिक पत्रों की संख्या एक सौ तक पहुँच जाती। परंतु उत्तर देने लायक जितने पत्र होते थे उनके उत्तर अवश्य जाते थे।

भोजन के पश्चात् रात को बालकों की पढ़ाई की पूछ ताछ करते, घर के बड़े बूढ़ों से बात चीत करते और तब पढ़ना

आरंभ करते। स्वयं न पढ़ सकते तो दूसरा कोई पढ़ सुनाता। पढ़ते ही पढ़ते साढ़े दस या ग्यारह बजे सो जाते। उनकी विद्याभिरुचि और परिश्रम के दो एक उदाहरण यहाँ और लिख देने उचित हैं। जब आप फिनैंस कमेटी के सभासद थे तब कमेटी के कार्य पर रमाबाई को साथ लेकर कलकत्ते गए। वहाँ धर्मतल्ला पर एक बड़ा बँगला किराए पर लिया। यहाँ एक बँगला समाचार पत्र बेचनेवाले ने आकर रमाबाई से पूछा—"पत्र लीजिएगा ?" रमाबाई ने कहा—"नहीं, हम लोग तो बंग भाषा जानते ही नहीं, व्यर्थ पत्र क्यों लें ?" रमाबाई की बात पर ध्यान न देकर उसने रानडे से जाकर पूछा। उन्होंने कहा—आज का पत्र दे जाओ। कल से मत लाना। इसके बाद सोम-वार को दे जाना। उसी दिन से रोज लेंगे।" उसके चले जाने पर रमाबाई से कहा—"जिस स्थान पर दो चार महीने के लिये आएँ हैं वहाँ के लोगों से हमें यह कहते संकोच मालूम होता है कि हम तुम्हारी भाषा नहीं जानते।" रमाबाई ने कहा—"किसी दूसरी भाषा न जानने की बात कहने में संकोच ही काहे का ? यदि उसके सीखने की इच्छा भी हो तो वह क्यों कर पूर्ण हो सकती है। अच्छा, मैं तैयार हूँ। कल से आपही मुझे बँगला सिखलाइए। परंतु आपके अतिरिक्त मैं किसी दूसरे से न सीखूंगी।" रानडे मौन हो गए।

दूसरे दिन जब आप टहलने गए तब दस पंद्रह बँगला और अँग्रेजी की पुस्तकें खरीद लाए और एक स्लेट पेंसिल मँगा

ली। भोजन कर बस एक पुस्तक उठा ली। सब काम छोड़ उस दिन बँगला ही सीखते रह गए। दूसरे दिन दोपहर को बँगला पुस्तक हाथ में लेकर हजामत बनवाने बैठे। पढ़ते पढ़ते जब रुकते तब हज्जाम से पूछ लेते। रमाबाई लिखती हैं—"उस समय मैं अंदर थी, मैंने समझा किसी मिलनेवाले से बात कर रहे हैं परंतु सामने आकर देखा आप पुस्तक पढ़ रहे हैं और हज्जाम शब्दों का उच्चारण और अर्थ बतला रहा है। मुझसे हँसी न रुकी। उसके चले जाने पर मैंने कहा—"मास्टर तो बहुत अच्छा मिला। श्री दत्तात्रेय ने जिस प्रकार चौबीस गुरु किए थे, उसी प्रकार यदि मुझसे आपके गुरुओं की सूची बनाने के लिये कहा जाय तो मैं इस हज्जाम का नाम सबसे ऊपर लिखूंगी। पहले तो शिष्य गुरु की सेवा करते थे; अब उलटे बेचारे गुरु को शिष्य की सेवा करनी पड़ती है।" इस प्रकार रानडे ने बँगला सीखी और रमाबाई को सिखलाई। कलकत्ते से रवाना होने के पहले उन्हें समाचार पत्र और पुस्तक पढ़ने का भी अभ्यास हो गया। चलते समय विषवृक्ष, दुर्गेशनंदिनी, आनंदमठ आदि कई पुस्तकें साथ भी ले लीं।

कलकत्ते के बँगले में पहले पहल जब रानडे जाकर ठहरे तब रमाबाई ने कहा—"यहाँ तो उजाड़ है, न बाग है न बगीचा।' रानडे ने शांतिपूर्वक कहा—'कहीं केवल बाग बगीचों और पेड़ों से भी मनोरंजन होता है। जिसके पास वाचन के ऐसा साधन है, उसे इन सब बातों की चिंता न करनी चाहिए।

वाचन के समान आनंद और समाधान देनेवाली और कोई चीज नहीं है। एक विषय की पुस्तक से तबियत उकता जाय तो दूसरे विषय की पुस्तक उठा लो। कविता छोड़ कर गद्य पढ़ने लगो। यदि अधिक पढ़ने से जी उकताए तो ईश्वर निर्मित बाग बगीचे देखने चली जाओ। तुम्हारे पास तो सभी साधन हैं। गाड़ी पर हवा खाने जाने से थके हुए मन को विश्राम मिलता है। मनुष्य-निर्मित बाग बगीचे से यदि चित्त आनंदित और प्रफुल्लित होता है तो ईश्वर-निर्मित सृष्टि-सौंदर्य का मनन करने और उसके द्वारा प्राणीमात्र को मिलनेवाले सुख का विचार करने से अंतःकरण को सद्गति प्राप्त होती है। अण्णा-साहब की मृत्यु के कारण तुम्हारा मन उदास है इसलिये तुम्हारा मनोविनोद किसी प्रकार नहीं हो सकता। अच्छा, अब हम एक काम तुम्हारे सुपुर्द करते हैं। कल से तुम इस उजाड़ जगह को शोभा पूर्ण बनाने का विचार ठानो। दूसरे दिन मजदूर बुलाए गए और बाग लगाने के लिए जगह साफ की गई। कुछ तरकारियों और फूलों के बीज बो दिए गए। दो एक दिन में जब सब ठीक हो गया, कुर्सियाँ लगा कर वहीं पढ़ाई शुरू हो गई।

इस प्रकार विद्याभ्यास और परिश्रम का उपदेश रानडे अपने जीवन से देते थे।

रानडे को विशेष अनुराग इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म शास्त्र, महाराष्ट्र कविता आदि से था परंतु थोड़ा बहुत वे अन्य विषयों

के ग्रंथ भी पढ़ते रहते थे। प्रयाग की कांग्रेस के समय विलायत से नया आया हुआ एक अंग्रेज उनके पुस्तकावलोकन और स्मरण शक्ति का हाल सुन कर उनसे मिलने गया। लोगों ने समझा कि किसी राजनैतिक विषय पर गंभीर बातें होंगी पर उसने रानडे से घोड़ों की चर्चा शुरू कर दी और जितनी देर तक रहा घोड़ों के ही संबंध में बात चीत करता रहा। यद्यपि वह स्वयं बड़ा विद्वान् था परंतु रानडे की विद्वत्ता से बड़ा प्रसन्न हो गया। सन् १८९८ की कांग्रेस में वे मद्रास गए। वहाँ तंजोर पुस्तकालय में एक महाराष्ट्र मिला। उससे उन्होंने पूछा कि इस पुस्तकालय में महाराष्ट्र इतिहास की सामग्री कितनी मिलती है। उसका ध्यान भी इधर नहीं गया था। सामयिक विषयों का ज्ञान रानडे को बहुत था। प्रत्येक प्रांत की राजनैतिक, सामाजिक अवस्था की वे खबर रखते थे, मद्रास की इसी कांग्रेस के समय स्टेशन से वे घर गए, कपड़े उतारते जाते थे और एक नवयुवक वकील से गॅस ऑव लर्निंग बिल पर बातचीत करते जाते थे। थोड़ी ही देर में वकील को मालूम हो गया कि रानडे मद्रास निवासी न होने पर भी इस विषय पर बहुत अधिक जानते थे। मरने से पहले जब डाक्टर लोग उनको यह नहीं बतलाते थे कि उनको कौन रोग है उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकें मँगा कर पढ़ डालीं और अपना रोग बतला दिया।

सादगी और निरभिमानता।

रानडे में अभिमान का लेश मात्र नहीं था। उन्हें कपड़ों की कोई परवाह नहीं थी और शान शौकत का कुछ भी ख्याल नहीं था। घर पर अच्छे से अच्छा भोजन और वस्त्र तैयार रहता। बाहर जाने के लिये गाड़ी घोड़ा भी था। रहने के लिये बँगला भी साफ सुथरा था परंतु काम पड़ने पर साधारण से साधारण भोजन से वे संतुष्ट हो जाते थे। सफर में साधारण सी कोठरी में ठहर जाते थे। मीलों पैदल चलते थे। १८९९ में जब लखनऊ में कांग्रेस हुई थीं बंबई प्रांत में प्लेग फैला हुआ था इसलिये सरकारी आज्ञा से बंबईवाले शहर से प्रायः ७ मील पर ठहराए गए थे। इनमें रानडे भी थे। लखनऊ के प्रसिद्ध नेताओं ने कमिश्नर साहब से रानडे के शहर में रहने के लिये विशेष आज्ञा माँग ली परंतु बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने बंबईवाले साथियों का साथ नहीं छोड़ा और इतनी दूर से जाने का कष्ट सहना पसंद किया।

जब रानडे के हाईकोर्ट के जज होने का समाचार पूना में पहुँचा उनके मित्रों ने लगातार आठ दिन तक जलसों का प्रबंध किया। उन्होंने बहुत मना किया पर किसी ने उनकी न सुनी। पहले ही दिन हीराबाग में 'पान सुपारी' के साथ आतिश बाजी छोड़ी गई। दर्याफ्त करने से मालूम हुआ कि प्रत्येक दिन एक न एक जलसा किया जायगा और अंतिम दिन स्टेशन तक बैंड बाजा जायगा। यह सब रानडे की रुचि

के विरुद्ध था। वे बिना किसी को सूचना दिए ही रात के ११ बजे की गाड़ी से केवल दो बक्स साथ लेकर चल दिए। रमाई साथ गईं, बाकी असबाब दूसरे दिन गया।

रानडे प्रायः अपने पास पैसा नहीं रखते थे। प्रसिद्ध तो यह है कि वे पैसा छूते भी नहीं थे। लेन देन का सब कार्य्य रमाबाई करती थीं परन्तु खर्च का सब हिसाब उनको मालूम रहता था।

हाईकोर्ट से रानडे सायंकाल प्रायः पैदल घर आते थे। कभी कभी वे गाड़ी भी अपने साथ रखते। बहुत दिनों तक उनके टहलने का यही समय था।

रानडे अपने संबंध में बहुत कम बात चीत करते थे। दूसरों के गुणों ही की चर्चा अधिक रहती थी। देशहित के काम करने के लिये वे सदा तत्पर रहते थे पर किसी को साथ ले लेते थे और यश उसी को दिलाते थे। जो लोग उनके साथ वर्षों रहे हैं उन्होंने भी उनके मुँह से कभी यह नहीं सुना कि मैंने यह किया और मैंने वह किया। गोखले ने ठीक कहा है कि रानडे के शब्द-कोष में उत्तम-पुरुष सर्व नाम एक वचन था ही नहीं।

जो कोई उनसे किसी प्रकार की सहायता माँगने जाता उस से वे सदा मिलते। सड़क पर कोई चिट्ठी पढ़वाता, बोझ उठाने में सहायता माँगता तो वे कभी इनकार नहीं करते।

जिस संस्था में वे काम करते उसकी छोटी बातों पर वे

ध्यान नहीं देते थे। उनका ध्यान सदा उसके उद्देश्यों पर रहता था। हमारे यहाँ लोग छोटी छोटी बातों पर लड़ जाते हैं। अपनी टेक रखना चाहते हैं चाहे संस्था टूट क्यों न जाय।

रानडे को लोग समझते थे कि वे बड़े सीधे सादे हैं किसी पर डाँट डपट नहीं रखते, सबको जल्दी क्षमा कर देते हैं, हर एक का एतबार कर लेते हैं। लोग समझते थे कि उनको आदमी की पहचान नहीं थी। चंदावरकर कहते हैं कि बाँई आँख से जो थोड़ा बहुत देख सकते थे वह उससे बहुत अधिक था जो हम अपनी दोनों आँखों से देखते हैं। उनकी आँख मनुष्यों की आत्मा में घुस जाती थी और उसके दिल का पता लगा लेती थी। उनका जिस से साथ पड़ता था वे सब का हाल जानते थे परंतु उनमें निरभिमानता इतनी थी कि सब के साथ बराबर का बर्ताव करते थे। सब समझते थे कि वे मुझसे प्रसन्न हैं और उनसे मेरा काम निकल जायगा और सच्ची बात यह है कि वे सब से कुछ न कुछ देशहित का काम करवा ही लेते थे।

घर में भी वे कोई ऐसी बात नहीं करते थे जिस से लोग यह समझें कि अपना बड़प्पन दिखलाते हैं।

दानशीलता।

रानडे दानशील थे। पूना छोड़ कर जब वे हाईकोर्ट की जजी पर गए उन्होंने २५०००) अनेक सार्वजनिक संस्थाओं को दिया था। विद्यार्थियों की सहायता वे हमेशा किया करते

थे। कई विद्यार्थी उनके साथ रहते थे जिनके सिपुर्द थोड़ा बहुत घर का काम भी रहता था। अन्य प्रकार के दुखी लोग उनसे रुपया ले जाया करते थे। सब कामों में वे थोड़ा बहुत चंदा देते रहते थे।

लाला माधो रामजी रानडे के उर्दू चरित्र में लिखते हैं कि उन्होंने अपने वसीयत नामे में निम्नलिखित प्रकार से दान करने की आज्ञा दी थी।

पूना पुस्तकालय	१०००)
पूना प्रार्थना-समाज	१०००)
पूना कन्या हाईस्कूल	१०००)
पूना सार्वजनिक सभा	१०००)
पूना संगीत समाज	५००)
पूना टौनहाल कमेटी	५००)
पूना मोहताजखाना दाऊद सासून	५००)
पूना दक्षिणी भाषा में अनुवाद करनेवाली सभा	१०००)
पूना में गरीबों को ओषधि बाँटने के लिये	१०००)
पूना सिटी क्लब ,, ,, ,, ,, ,,	५००)
पूना दक्षिण मराठा एसोसिएशन	१०००)
पूना दक्षिण शिक्षा सभा	१०००)
पूना में गरीबों के मुर्दे जलाने के लिये	१०००)
बंबई प्रार्थना-समाज	१०००)
बंबई विश्वविद्यालय	३०००)

बंबई हिंदू क्लब ,, ,, ,, ,,	५००)
बंबई इंडियन जेनरल पुस्तकालय	१०००)
पंढरपुर अनाथालय	१०००)
बारामती गाँव की शिक्षा सभा ,, ,,	५००)
सिविल सर्विस फंड	३०००)
इंडस्ट्रियल एसोसिएशन जिस का उद्देश्य बंबई प्रांत के भारतीय विद्यार्थियों को जापान शिक्षा पाने के लिये भेजना है	२०००)
ताता इंस्टीट्यूट छात्र वृत्ति	३०००)
कोल्हापुर की एक संस्था के लिये	१०००)
,, ,, ,, के मंडप के लिये	१०००)
किरकी में यात्रियों की धर्मशाला	१०००)
फुटकर (ब्राह्मणों को दान)	१०००)
अन्य धार्मिक कार्य्यों के लिये	१००००)

दानशीलता होना असाधारण गुण है। परंतु सच्चा दानी वह है जो अपने दान की गीत नहीं गाता और जिसके यहाँ से शुभ कार्य के लिये भिक्षा माँगनेवाला खाली हाथ नहीं जाता।

रानडे ने अपना रुपया व्यर्थ कभी नहीं फेंका। देश की आवश्यकता के अनुसार वे दान करते थे। ऊपर दी हुई सूची से मालूम हो जाता है कि वे कितनी भिन्न भिन्न रीतियों से दान करते थे।

रानडे सुधारक थे। उनका साथ देनेवाले भी बहुत थे।

परंतु विवाहादि अवसरों पर इन लोगों को बड़ा कष्ट होता था। संस्कारादि कराने लिये ब्राह्मण मिलना कठिन हो जाता था। इस कष्ट को दूर करने के लिये वे नियमित रूप से चार ब्राह्मण अपने यहाँ रखते थे जो सुधारकों के कुटुंब में आवश्यकता पड़ने पर हवनादि करा आते थे। एक बेर सुधारकों के विरुद्ध विशेष आँदोलन मचा था उस समय १००) वार्षिक पर दो ब्राह्मण और नियुक्त कर लिए गए थे।

सोशल कांफरेंस के अधिवेशनों की रिपोर्ट वे अपने खर्च से छपवाते थे। इसके लिये कभी उन्होंने चदा नहीं माँगा। स्वयं छोटे छोटे छापेखानों की तलाश में वे गलियों में घूमा करते थे जिसमें रिपोर्ट छपवाने में खर्च कम पड़े।

उदारता और प्रेम।

दानशील पुरुष उदार होते हैं परंतु उदारता केवल दानी होने ही में नहीं है। सच्ची उदारता का परिचय सार्वजनिक सहानुभूति और प्राणी मात्र से प्रेम करने से मिलता है। मत भेद, स्थिति-भेद, जाति-भेद, आयु-भेद आदि रहते हुए भी एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिलते रहना असाधारण प्रेम का लक्षण है। दूसरे के गुणों ही पर सदा दृष्टि रखना, दूसरों की विपद में अपने को विपद्-ग्रस्त पुरुष के स्थान में समझ कर पूर्ण और हार्दिक सहानुभूति करना उदारता है।

इस गुण के लिये भारत के नेताओं में रानडे अपने समय

में अग्रगण्य गिने जाते थे। कभी किसी ने उनके मुँह से किसी की निंदा नहीं सुनी। ईर्ष्या, द्वेष, छोटी छोटी नीच व्यक्तिगत बातों से वे सदा दूर रहते थे। एक बेर उन्होंने कहा था—"इसको क्या आवश्यकता है कि लोगों से कहा जाय कि वे बुरे हैं, किसी काम के नहीं, उनसे कोई अच्छा काम हो ही नहीं सकता। यदि तुम मनुष्यों को जिस जगत में वे रहते हैं उसका तात्पर्य बतलाना चाहते हो और उनसे शुभ कार्य कराना चाहते हो तो उनमें जो छिपे हुए गुण दबे पड़े हैं उनकी सुधि दिला कर जाग्रति पैदा करो"। इस उच्च सिद्धांत पर वे सदा चलते थे, यहाँ तक कि जो लोग उनका विरोध करते थे, जो उनको बदनाम करने या कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते थे उनकी भी वे कभी शिकायत नहीं करते थे। कभी उनको दुःख भी होता था तो अपनी अप्रसन्नता किसी पर प्रगट नहीं करते थे। मिलने जुलनेवाले लोगों पर यह बात विदित नहीं होती थी। जो रात दिन उनके साथ रहते थे उनको उनके चेहरे से थोड़ा बहुत इसका पता लग जाता था परंतु उनके शब्दों या कार्य्यों से नहीं। आँखे खराब होने के कारण अखबार उनको पढ़कर सुनाए जाते थे। जिन दिनों समाज संशोधन के विरुद्ध आंदोलन मचा हुआ था समाचार पत्र अपने अपने मतानुसार उनकी निंदा और स्तुति करते थे। गोखले उनको पत्र पढ़ कर सुनाया करते थे। वे कहते हैं कि स्तुति करने वालेपत्रों को वे नहीं सुनते थे परंतु निंदा करनेवालों को सुनने की जिद्द करते

थे। वे कहा करते थे कि संभव है उनमें कुछ ऐसे विचार मिल जाँय जो स्वीकार करने योग्य हों। जो खंडन कठोर और दुःख पहुँचानेवाला होता था उसको सुनकर वह यही कहा करते थे कि ऐसे दुःख को सहन करने का अभ्यास डालना भी एक तप है।

इस पुस्तक के अंत में जो कहानियाँ दी गई हैं उनमें से अनेक उनकी उदारता का परिचय देती हैं।

जिनसे वे सहमत नहीं होते थे आवश्यकता पड़ने पर वे उनका भी साथ दे थे। उनके मित्र आश्चर्य करते थे कि जो पुरुष राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों को मानता हो वह कभी मंदिरों में जाकर पुराण की किसी कथा पर व्याख्यान देता और कभी आर्यसमाज में जाकर उपदेश करता।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंद सरस्वती जब पूना गए थे रानडे ने उनके व्याख्यानों का प्रबंध कर दिया था और वे स्वयं प्रति दिन संध्या समय व्याख्यान सुनने जाया करते थे। जब उनके बिदाई का दिन आया लोगों ने निश्चय किया कि स्वामी जी के लिये नगरकीर्तन का प्रबंध किया जाय। इसकी चर्चा शहर में फैल गई, अनेक प्रकार के विरोधी खड़े हो गए। कुछ लोगों ने सबेरे ही से गर्दभानंदाचार्य की सवारी निकाली। स्वामीजी की सवारी का प्रबंध रानडे के घर पर होने लगा। गर्दभानंदाचार्य की सवारी का समाचार सुनकर खूब हँसी

हुई। सायंकाल स्वामीजी के व्याख्यान हो जाने पर उनको माला पहनाई गई। पालकी में वेद रक्खे गए और हाथी पर स्वामी जी आग्रहपूर्वक बैठाए गये। ज्यों ज्यों नगरकीर्तन आगे बढ़ता था विरोधियों का दल भी बढ़ता जाता था। लोग अंड बंड बकने लगे। कहीं कहीं वे दंगा फसाद करने के लिये भी उत्तेजित हो जाते थे। वर्षा होने के कारण सड़क पर कीचड़ भी बहुत था। लोग कीचड़ फेंकने लगे और आगे चलकर ईंट पत्थर भी बरसाने लगे, पर रानडे ने पुलिसवालों को बिलकुल मना कर दिया था कि वे हस्तक्षेप न करें। जब राह चलतों पर ईंटा बरसनी शुरू हो गई तब पुलिस ने रोका और फसादी लोग भाग गए।

रानडे आरंभ से अंत तक साथ थे। जब वे घर पहुँचे उन्होंने कपड़े बदले। लोगों ने पूछा 'सिपाही रहते भी आप के कपड़ों पर कीचड़ फेंका गया'। आपने हँसते हुए उत्तर दिया 'जब हम सबके साथ थे तब हम पर भी कीचड़ क्यों न पड़ता। पक्षाभिमान का काम ऐसा ही होता है। उसमें इस बात की परवाह नहीं की जाती कि विरुद्ध पक्ष के लोग उच्च श्रेणी के हैं या मध्यम। ऐसे अवसर पर मानापमान का विचार हम लोगों के मन में क्यों आने लगा। ऐसे काम इसी तरह होते हैं'।

स्वामी जी की ओर श्रद्धा और प्रेम का भाव सदा उनके चित्त में रहता था। उनकी बनाई परोपकारिणी सभा का सभासद होना भी उन्होंने स्वीकार किया था, लोग उनसे कहा

करते थे कि मतभेद होते हुए भी आप स्वामी जी का साथ क्यों देते हैं ? वे कहते, "क्या हर्ज है यदि स्वामी जी केवल वेदों ही को अपौरुषेय मानते हैं, यह उनका मत है। हमें गंभीरतापूर्वक देखना चाहिए कि इस सिद्धांत के अतिरिक्त कितने विषय हैं जिन पर हमारे और उनके सिद्धांत मिलते हैं"। १८६६ में राजा राममोहन राय पर व्याख्यान देते हुए महापुरुषों के लक्षणों के उदाहरण में उन्होंने कहा था कि महापुरुषों को संसार की साधारण बातों से भी असाधारण शिक्षा मिलती है। उनकी कल्पना शक्ति उनको बाह्य जगत् के तत्त्व की ओर ले जाती है। "हमलोग संसार की वस्तुओं से इस प्रकार परिचित हैं कि उनके अंदर के तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते। हमलोग एक प्रकार की मूढ़ता से आच्छादित हैं जो हमको वस्तुओं के भीतर पैठने से रोकती है। उदाहरण के लिये दयानंद सरस्वती के जीवन की उस कथा को लीजिए जिसमें उनके घर छोड़ कर संन्यासी हो जाने की बात आई है। आप लोग जानते हैं वे महापुरुष थे। इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता, चाहे हमारे और उनके मतभेद भी हो। वर्तमान काल के लोगों में शायद ही कोई आदमी ऐसा हुआ है जिसका नाम उनके साथ लिया जा सके"। यह कह कर रानडे ने स्वामीजी के शिवरात्री पर बोधोदय की कथा कह सुनाई।

रानडे ने आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को एक करने का प्रयत्न भी कई बार किया था परंतु वे इसमें कृतकार्य नहीं हुए।

उदार पुरुष किसी का दुःख नहीं सह सकते; वे तन, मन, धन से सहानुभूति प्रगट करने के लिये तयार रहते हैं। सं० १६०० में देश में अकाल पड़ा था। एक इंजिनियर साहब जो अकालपीड़ित लोगों से उनकी सहायतार्थ मजदूरी कराने के काम पर नियुक्त हुए थे, रानडे से मिलने आए। बात चीत में रानडे से उन्होंने कहा हजार प्रयत्न करने पर भी अकाल से पीड़ित लोगों का मर जाना साधारण सी बात है। रानडे को प्रायः क्रोध नहीं आता था परंतु इनकी बात सुनकर दुख और क्रोध से उन्होंने कहा कि आप आनंद से जीवन निर्वाह करें और आप के सामने लोगों का भूखों मर जाना साधारण सी बात है। क्या आप का यह धर्म नहीं कि परमेश्वर के बंदों को मौत से बचावें।

अत्यंत उदार होना और पूरी सहानुभूति रखना बड़ा कठिन है। ऐसा करने में कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं रानड़े का चरित्र इसका एक अच्छा उदाहरण है।

१४ अक्तूबर सं० १८६० की एक घटना इस संबंध में लिखने योग्य है। पूना में एक सेंट मेरीज कान्वेंट है। संध्या समय पादरियों ने पूना के कुछ प्रतिष्ठित सज्जनों को निमंत्रित किया। वहाँ कुछ लेख पढ़े गए और व्याख्यान हुए। तदुपरांत जनाना मिशन की कुछ मेमों ने अपने हाथों से लोगों को चाय देनी शुरू की। उनका मान करने के लिये सब ने चाय ले ली, कुछ तो पी गये और कुछ लोगों ने प्याला अलग रख दिया। जितनी स्त्रियाँ उप-

स्थित थीं उन्होंने चाय लेना भी अस्वीकार कर दिया। इसके दो तीन दिन पीछे इसका सारा हाल "पूनावैभव" पत्र में गोपाल विनायक जोशी के नाम से छप गया। उसमें ब्राह्मणों पर बड़ा कटाक्ष किया गया था। लिखा था कि यदि कोई गरीब हिंदू विलायत से आता है तो तुरंत निकाल दिया जाता है और ये बड़े बड़े सुधारक धन के बल से ब्राह्मणों को अपने साथ रखते हैं। ब्राह्मण मंडली के इस धर्मविरुद्ध आचरण के कारण सुधारक आसमान पर चढ़े जाते हैं।

इसी बीच में रानडे के घर एक दिन भोज हुआ। उसमें गोपाल विनायक जोशी भी आए थे। इस भोज में दो तीन को छोड़ कर सब ब्राह्मण ही थे। दूसरे दिन इस भोज का विवरण भी "पूनावैभव" में गोपाल राव ने लिख भेजा। यह सब वे केवल मनोविनोद के लिये करते थे परंतु हिंदूसमाज में खलबली मच गई। श्रीशंकराचार्य जी के भी कान खड़े हो गए। लोगों ने सभा करके प्रस्ताव किया कि यदि "पूनावैभव" में छपी हुई बातों का खंडन अथवा विरोध न किया जायगा तो सुधारक जाति से च्युत किए जाँयगे। दो सप्ताह तक उन्होंने आसरा देखा। ५२ आदमियों में से १० ने खेद प्रगट किया और पत्र लिख दिया कि हमने केवल प्याले छूए थे चाय नहीं पी थी। उनका छुटकारा हो गया। शेष ४२ वहिष्कृत कर दिए गए।

श्रीशंकराचार्य जी ने एक शास्त्री को इसका निर्णय करने के लिये पूना भेजा। इधर सुधारक लोगों के घरों में अशांति फैलने

लंगी। रानडे की बहन ने आग्रह किया कि वे भी क्षमा माँग ले और लिख भेजें कि मैंने चाय नहीं पी थी, बस छुटकारा हो जाय। बात भी सच थी। रानडे ने चाय नहीं पी थी केवल लेकर रख ली। रानडे ने उत्तर दिया "पागल हुई हो, यह क्यों कर हो सकता है, जब मैं उस मंडली में मिला हुआ हूँ तब जो काम उन्होंने किया वही मैंने भी किया। मैं नहीं समझता कि चाय पीने या न पीने में भी कुछ पाप पुण्य लगा हुआ है, परंतु जिसमें हमारे साथ बैठनेवाले चार आदमी फँसे हैं उससे अलग हो जाना मैं कभी पसंद नहीं करता।" उनकी बहन ने श्राद्धादि अवसरों पर ब्राह्मणों के मिलने की कठिनाई बतलाई। उन्होंने संस्कारादि कराने के लिये नियमित वेतन पर ब्राह्मण नियुक्त कर लिए क्योंकि वे घरवालों को भी असंतुष्ट नहीं रखना चाहते थे।

दो वर्ष बीत गए। संग्राम ठंढा पड़ने लगा परंतु सुधारकों की गृहस्थी के क्लेश बढ़ते ही गए। जिनके घर की लड़कियाँ ससुराल थीं उनका आना जाना बंद हो गया। इन्हीं दिनों इनके एक परम मित्र जो चायवाले स्थान में उपस्थित होने के कारण बहिष्कृत थे और जिनका बहुत बड़ा परिवार था छुट्टियों में अपने घर आए। उनके यहाँ दो एक विवाह भी होनेवाले थे। उनके पिता भी जीवित थे। पिता ने प्रायश्चित्त करने की सलाह दी। उन्होंने पिता की सलाह नहीं मानी। रानडे ने उनसे कहा कि अपने बाल बच्चों को लेकर मेरे साथ लोनावले में छुट्टी बि-

ताओ। उन्होंने ऐसा ही किया। उनके पिता बड़ी चिंता में पड़ गए। वे दुखी हृदय से रो रो कर पत्र लिखते कि प्रायश्चित्त कर लो। एक दिन उन्होंने रानडे को पत्र दिखला कर उनसे पूछा कि इसमें क्या करना चाहिए। रानडे का कोमल हृदय अपने मित्र के पिता का दुःख न सह सका। उन्होंने कहा "यदि मैं तुम्हारे स्थान में होता तो मानहानि सह कर भी पिता जी को संतुष्ट करता" इसपर उनके मित्र ने कहा "यदि हमारे साथ आप भी प्रायश्चित्त कर लेते तो ठीक होता" थोड़े दिनों के बाद पूना से दस बारह और आदमी आ गए। सब ने आग्रह किया कि यदि आप प्रायश्चित्त कर लेंगे तो हमारा भी छुटकारा हो जायगा। समाज की कड़ी वेदनाओं से सभी दुखी थे। रानडे के कारण प्रायश्चित्त करने का साहस नहीं करते थे। उनके यह कहने पर कि मैं पिता को कष्ट न देता और प्रायश्चित्त करने की मानहानि सह लेता, सब उन्हीको प्रायश्चित्त में अगुआ बनाना चाहते थे। रानडे को अपने लड़के लड़कियों का विवाह नहीं करना था केवल मित्र के दुःख से दुखी होकर उन्होंने कहा "चलो, पुना चलकर एक तिथि निश्चय करो, मैं भी उस दिन पहुँच कर तुम्हारा साथ दूंगा"।

सूचना पाने पर प्रातःकाल आप पूना चल दिए और सायं-काल वहाँ से लौट भी आए। इसके बाद जब उनके मित्र भी लौटे तब उन्होंने उनसे सब हाल पूछा। उनके मित्र ने कहा, मुझे लोगों ने अपने साथ ले लिया, पिता जी के सच्चे प्रेम और

उसके कारण सुख का अनुभव मुझे उसी समय हुआ जिस समय प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणों के आज्ञानुसार मैंने पिताजी को प्रणाम किया। उस समय उन्होंने मुझे छाती से लगाकर गद्गद होकर कहा 'इतने मनुष्यों में आज तुमने मेरा मुख उज्वल किया'। उस समय उनके और मेरे दोनों के नेत्रों से जल निकल रहा था। पिताजी का इस प्रकार प्रेमपूर्ण व्यवहार या उनके नेत्रों से इस प्रकार अश्रुपात मैंने कभी नहीं देखा था।

माता पिता के प्रेम और समाज के डर ने न मालूम कितने होनहार नवयुवक लोगों की शुभ उमंगों को उनके उत्पति काल ही में मिट्टी में मिला दिया। जो बीर अपने उज्वल उदाहरण से ब्रह्मचर्य्य और विद्योन्नति का डंका बजाते, सामाजिक बंधनो में पड़कर वे देश सेवा का नाम लेने योग्य भी नहीं रहे। रानडे की प्रशंसा इस बात में है कि इस प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होने की अवस्था में अपना सिर झुका देने पर भी अपने उद्देश्य को उन्होंने नहीं छोड़ा। परंतु कलकत्ता कांग्रेस में महाराजा नाटोर के इस कथन को अवश्य सत्य मानना पड़ेगा कि "यदि रानडे में कुछ थोड़ी दिलेरी अधिक होती, उनके स्वभाव में कुछ अग्नि अधिक होती—एक शब्द में—यदि वे अधिक बलवान व्यक्ति होते तो रानडे हमारे समाज पर उतना ही गहरा प्रभाव डाल जाते जितना राजा राममोहन राय ने डाला"।

परंतु रानडे की यह कमजोरी एक बड़े गुण का परिणाम थी। वे सबको साथ लेकर चलना चाहते थे।

अंग्रेज कवि आर्नल्ड की एक प्रसिद्ध कविता का भाव उन की अवस्था पर ठीक ठीक घटता है।

'संसार के बालू पर मनुष्यों की सेना आगे चल रही है। इन लोगों का पैर ठीक नहीं पड़ रहा है। ईश्वर ने उन्हें उत्पन्न किया है, इनको जहाँ जाना है वह स्थान भी मालूम है। परंतु मार्ग लंबा है, इनको बालू में चलते वर्षों बीत गए। प्यास से ये दुखी हैं। चारों ओर बालू फैला हुआ देखकर ये लोग हिम्मत हार जाते हैं। इनका समूह कई दलों में विभाजित हो गया है। इनकी सेना के तितिर बितिर हो जाने का डर है। हाय! इन सब लोगों को मिलाए रक्खो, नहीं तो हजारों की सेना में से एक भी नहीं बचेगा, सब अलग अलग भटकेंगे। वृथा बालू में छट पटा कर एक एक करके मर जाँयगे।'

रमाबाई को भी रानडे का प्रायश्चित करना पसंद नहीं आया था। वे मन में कहने लगीं कि पूनावालों के लिये उनको बदनामी भी उठाना पसंद है। रानडे के पूना से वापस आने पर उन्होंने समझा था कि उनको बड़ा रंज होगा, इसलिये वे उनके सामने नहीं गईं परंतु आड़ से देखने से मालूम हुआ कि वे शांतिपूर्वक अपनी डाक और अखबार देख रहे हैं। किसी प्रकार उद्विग्न या चिंतित नहीं थे। उन्होंने भोजनादि भी प्रसन्नता से किया। दूसरे दिन से मित्रों ने आकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करनी शुरू की। टाइम्स पत्र में दो एक लेख भी प्रायश्चित्त की कड़ी समालोचना करते हुए निकले। आपने

शांतिपूर्वक उनको पढ़ लिया, इस संबंध में रमाबाई के बात-चीत करने पर आपने कहा—"अपने मित्रों और साथ रहनेवालों के लिये यदि थोड़ी बुराई भी सहनी पड़े, तो उसमें हानि क्या हुई"।

आशा और विश्वास की अधिकता।

We should learn to be men. stalwart puritan men, battling for the right, not indifferent, nor sanguine, trustful but not elated, serious but not dejected—Ranade.

रानडे में सब से बड़ा गुण आशा और विश्वास का आधिक्य था। उनपर कभी नैराश्य नहीं छाता था। शुभ कर्म्म करने में कभी उन्होंने विश्वास नहीं छोड़ा। निराशा की बातों को वे हवा में उड़ा देते थे। गोखले इस संबंध में अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

"रानडे की एक बात जो मैं समझता हूँ १८६१ में उन्होंने मुझसे कही थी मेरी स्मृति पर वज्रांकित हो गई है। उस वर्ष सोलापुर और बीजापुर के जिलों में घोर अकाल पड़ा था। सार्वजनिक सभा ने जिसका मैं उस समय मंत्री था, अकाल-पीड़ित लोगों की अवस्था पर बहुत सी सामग्री इकट्ठा की थी और समय पाकर इस विषय पर सरकार की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भी भेजा था। इस पत्र को हम लोगों ने बड़ी मेहनत और विचार से लिखा था परंतु सरकार ने केवल दो पंक्ति

का उत्तर लिख भेजा कि हम लोगों ने तुम्हारे पत्र का विषय नोट कर लिया है। मुझे यह उत्तर पाकर बड़ी निराशा हुई और दूसरे दिन जब रानडे संध्या को टहलने जा रहे थे मैं भी उनके साथ हो लिया। मैंने उनसे पूछा "इतना कष्ट उठाने और सरकार की सेवा में पत्र भेजने से क्या लाभ जब कि सरकार उत्तर में इससे अधिक लिखने की परवाह नहीं करती कि उन्होंने हमारे पत्र के विषय को नोट कर लिया" रानडे ने उत्तर दिया—"आप नहीं जानते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है। ये प्रार्थना-पत्र केवल नाम मात्र के लिये सरकार के नाम भेजे जाते हैं यथार्थ में ये लोगों के नाम भेजे जाते हैं जिसमें वे इन विषयों पर सोचना सीखें, कई वर्ष तक इस काम को बिना किसी फल की आशा के करना पड़ेगा, क्योंकि इस प्रकार की राजनीति इस देश में नई है। इसके अतिरिक्त यदि सरकार जो कुछ हम कहते हैं उसको नोट कर लेती है—यह भी बहुत कुछ है।" जो देशहितैषी थोड़ी थोड़ी बातों से आशा त्यागने लगता है वह कुछ काम नहीं कर सकता। काम करने-वाले को देश की अवस्था, लोगों की दशा, उनके पूर्व के इतिहास पर दृष्टि रखते हुए चलना चाहिए। सर्वदा सब बात मनमानी नहीं हो सकती। कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं। रानडे ने जब सोशल कानफरेंस चलाई थी चारों ओर से लोग उसका विरोध करते थे। उसके अधिवेशनों में गिने चुने लोग आते थे। जन-समूह में उसके लिये कोई अनुराग नहीं था। १८६१ के लगभग

एक दिन गोखले ने उनसे यह पूछने की हिम्मत की कि जब सोशल कानफरेंस की उन्नति के संबंध में आपके बड़े से बड़े प्रेमी मित्र सिर हिला देते हैं और कहते हैं कि सभाएँ करने, प्रस्ताव पास करने और इस प्रकार के निरर्थक कार्यों में क्या रखा है, तब कौन सी बात है जो आपके अनुराग को कायम रखती है और आप उसके लिये निरंतर उद्योग करते हैं"। उन्होंने उत्तर दिया—"काम निरर्थक नहीं है, बल्कि इन लोगों का विश्वास छिछला है।" कुछ सोच कर फिर उन्होंने कहा "कुछ वर्षों तक ठहरो, मुझे समय आता दिखलाई देता है, जब लोग यही प्रश्न कांग्रेस के बारे में पूछेंगे जिसके लिये आजकल लोगों को इतना जोश है। हमारी जाति में एक प्रकार का दोष है कि हम निरंतर उद्योग के बोझ उठाने की योग्यता नहीं रखते"।

रानडे की भविष्यवाणी ठीक निकली, थोड़े ही वर्षों में कांग्रेस भी फीकी पड़ने लगी और बहुत से लोग उसके संबंध में भी कहने लगे कि उसके रखने की क्या आवश्यकता है। हमारे देश में यह साधारण दृश्य है कि लोग किसी काम को बड़े जोश के साथ उठाते हैं परंतु थोड़े ही दिनों में हिम्मत पस्त हो जाती है। "आरंभशूरों" की हममें न्यूनता नहीं है, न्यूनता है ऐसे लोगों की जिनको अपने काम में पूर्ण विश्वास हो और जो उसकी उन्नति की पूरी आशा रखते हों। रानडे के निरंतर उद्योग से सोशल कानफरेंस दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर

गई। उसकी उन्नति के लिये कोई काम वे छोटा नहीं समझते थे। जैसे विवाह आदि अवसरों पर लोग घर घर निमंत्रण देते हैं उसी प्रकार रानडे सोशल कानफरेंस में बुलाने जाया करते थे।

रानडे ने तैलंग की वर्षी पर कहा था "हम इस देश के योग्य नहीं हैं यदि हम में अपने देश के इतिहास से आशातीत होने की शिक्षा नहीं मिलती—वह इतिहास जो संसार की समस्त जातियों के इतिहास से बढ़ कर है। एशिया, योरोप, अफ्रिका अथवा अमेरिका का नक्शा देखिये। आपको मालूम होगा कि संसार में कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसकी अटूट स्थिति इतने अनंत काल से चली आई हो। अन्य देशों में जातियाँ और धर्म उठे, बढ़े और नाश को प्राप्त हो गए, परंतु भारत भाग्यवान है कि अनेक अंशों में अधोगति को प्राप्त होकर भी यहाँ के निवासी संकटों से बचते ही चले आए हैं मानो ये किसी विशेष उद्देश्य को लेकर संसार में भेजे गए थे। उस उद्देश्य का झंडा वर्त्तमान काल के लोग अथवा उनसे कुछ पहले के लोग उठाने की योग्यता न रखते हों परंतु सच्ची बात यह है कि हम उस धर्म्म, उस इतिहास, उस साहित्य, उस दर्शन, उस आचार व्यवहार, उन विचारों के माननेवालों के प्रतिनिधि हैं जो बराबर चले आ रहे हैं और जो इसी देश में पाए जाते हैं और जिनको हमारे पूजनीय पूर्वजों ने इस देश से अन्य देशों में फैलाया था। आप पूछ सकते हैं कि इसमें कौन बड़ी बात है कि जिसके कारण हमारी आशाएँ बढ़ें। वस्तुतः ईश्वरी न्याय में

यह बिलकुल व्यर्थ नहीं हो सकता कि हम पर इतनी कृपा हो। यदि कई सहस्र यहूदियों का सुरक्षित चला आना करामात है तो मनुष्यजाति के पाँचवें अंश का आश्चर्यजनक सुरक्षित चला आना केवल संयोग मात्र नहीं हो सकता"। इसी व्याख्यान में आगे चल कर उन्होंने बतलाया है कि हममें अनेक लोग ऐसे हैं जो बच्चों की तरह थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े ही में अप्रसन्न। बच्चे को खिलौना मिल जाय वह रोना बंद कर देता है। खिलौना छीने जाने पर रोने लगता है। जो लोग अपने देश के भविष्य की आशा रखते हैं वे यह भली भाँति जानते है कि उन्नति कड़ी तपस्या के अनतर मिलती है। इसलिये कठिनाइयाँ और संकट जो उपस्थित होते हैं वे केवल हमारे साधन में सहायता करते हैं और हमारे विश्वास की परीक्षा करते हैं। यही रानडे के जीवन की सफलता का रहस्य था। इसी कारण उनको किसी ने जल्दी करते, माथा पटकते या किस्मत पर दोष देते नहीं पाया।

---

(१३) अंतिम दिन मृत्यु और स्मारक।

"And what life there was on the face even after death! It bore then the mark of gentleness. Death had done its work, but it could not take away his Faith, Charity and Love which brightened it even when the corpse was laid on the funeral pyre. Purity

shone on him, gave life and beauty to his face, even after death, because the soul within has before death—throughout his life—been pure. It was the character within that gave beauty to the face without."

—Sir Narayan Chandavar*k*ar.

१६०० की जुलाई से रानडे के पेट में ऐंठन का रोग लग गया, अगस्त से यह भयानक हो गया। १० सितंबर १६०० की एक चिट्ठी में जो रानडे ने अपने मित्र मानकर को लिखी थी उन्होंने इस प्रकार अपने रोग का वर्णन किया था—"आपके कृपापत्र से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे इस बेर केवल दस्तों ही का रोग नहीं था। दस्तों के बंद हो जाने से दूसरा रोग लग गया। मुझे मालूम होता था कि शरीर की शक्ति बिलकुल जाती रही। दस पंद्रह दिन के पीछे दहने और बाएँ हाथ में दर्द और साथ ही छाती के ऊपरी हिस्से में पीड़ा उत्पन्न हो गई। यह दर्द मुझे रात के ६ बजे के बाद उठता और रात भर बेचैन कर देता। अब भी दूसरे तीसरे दिन पीड़ा उठती है। इसका कारण पेट के ऊपरी हिस्से में वायू का जमा होना बतलाया जाता है। डाक्टरों की राय है कि जब मुझे फिर बल आजायगा तब दर्द नहीं होगा। प्रायः पाँच सप्ताह तक मैं घर ही पर रहा। इस सप्ताह से फिर कचहरी जाने लगा हूँ। दीवाली की छुट्टी के बाद मैं और छुट्टी लूँगा और महाबलेश्वर जाकर रहूँगा।"

डाक्टरों की राय से आप एक महीने की छुट्टी लेकर माथेरान चले गए थे। वहाँ फिर इस रोग ने सताया। रमाबाई उन दिनों बहुत बीमार थीं, तिसपर वे बच्चों को लेकर माथेरान पहुँचीं। वहाँ रहने से थोड़ा ही फायदा हुआ।

इस समय के कुछ पूर्व ही से रानडे सांसारिक वस्तुओं से अपनी रुचि कम करने लगे थे।

"तन जग में मन हरि के पासा।
लोक भोग सूँ सदा उदासा॥"

किताब पढ़कर सुनानेवाला यदि कहीं भूल करता तो आप उसको न बतलाते और उसको पढ़ने देते। घर गृहस्थी की कोई बात आती तो आप रमाबाई से कहते-यह काम तुम्हारा है, हमें इसमें दखल देने की जरूरत नहीं। डाक्टर ने एक तेल मलने को बतलाया था, उनकी बहन तेल मल देतीं। वे उनसे और लड़कियों से भजन गीतादि गाने का आग्रह किया करते और उनके गाने पर प्रसन्न होते। डाक्टरों की राय थी कि नौ दस बजे रात को दर्द होने का समय आने से पहले ही हँसी दिल्लगी की बातें होनी चाहिएँ परंतु इससे कुछ फायदा नही हुआ। प्रति दिन उसी समय छाती बँध जाती और हाथ पैर ऐंठने लगते। कुछ देर के बाद जँभाई, डकार आदि आने से दर्द कम होने लगता, परंतु शरीर बहुत शिथिल हो जाता था। इस बीमारी से कुछ पहले रानडे को धूप लग जाने से एक बेर ज्वर आ गया था और इनकी स्त्री भी बीमार हुई थीं जिसके

कारण बेहोश करके डाक्टरों ने चीरफाड़ की थी। इन सब का भी प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ा था। साथ ही उनकी आत्मा पवित्र होती जाती थी। अपना कोई काम उन्होंने नहीं छोड़ा। मन पारमार्थिक चिंतन में अधिक लगता, समाचार-पत्रों में राजकीय, औद्योगिक और सामाजिक विषयों की अपेक्षा धार्मिक विषयों के लेख वे अधिक पढ़ते। पर यह परिवर्त्तन ऐसी गंभीरता से हुआ था कि इसको केवल वेही लोग परख सकते थे जिन्हें उनसे घनिष्ट संबंध रखने का सौभाग्य प्राप्त था। भोजन की मात्रा भी कम होने लगी। दाख का भी, जो उनको बहुत पसंद थी, खाना उन्होंने कम कर दिया। एक दिन रमाबाई ने भोजनोपरांत दस बारह दाखें दीं परंतु उन्होंने आधी खाकर शेष छोड़ दीं। रमाबाई के आग्रह करने पर आपने कहा—"तुम चाहती हो कि हम खूब खाँय, खूब पिएँ, परंतु अधिक खाने से क्या कभी जिह्वा की तृप्ति होती है, उलटी लालसा और बढ़ती है। सब लोगों को इन विषयों में नियमित रहना चाहिए।"

चाय के घूँट भी आप गिनती के पीने लगे। वे भोजन के अच्छे अच्छे पदार्थ थोड़े खाकर शेष छोड़ देते। रमाबाई पूछतीं—"क्या यह चीज अच्छी नहीं बनी?" आप कहते "यदि तुमने बनाई है तो अवश्य अच्छी बनी है, परंतु अच्छे होने का यह अर्थ नहीं है कि बहुत खा ली जाय। भोजन का भी कुछ परिमाण होना चाहिए।" रमाबाई ने इन्हीं दिनों चुपचाप उनके

भोजनों के ग्रास गिनने शुरू किए। वे लिखती हैं कि वे ३२ ग्रास से अधिक न खाते थे।

जब पीड़ा होती डाक्टर बुलाए जाते। उनसे वे खूब विचारपूर्वक चिकित्सा संबंधी बातें करते परंतु साथ ही यह भी कह देते कि दवा केवल साधन मात्र है। "मैं दवा इस लिये पी लेता हूँ कि लोग पीछे दोष न दें, और दूसरे जब तक मनुष्य जीवित रहे, उद्योग न छोड़ना चाहिए।" इन्होंने डाक्टरों से कई बेर पूछा कि मेरा रोग क्या है? परंतु डाक्टर उनसे छिपाते थे। तब आपने मेडिकल कालेज से बहुत सी पुस्तकें मँगाकर पाँच छ दिन तक पढ़ी और डाक्टर से कहा—"आप छिपाया कीजिए, मैं अपनी बीमारी का नाम आप ही बतला देता हूँ। क्या मेरी बीमारी का नाम 'एंजिना पेक्टोरिस' नहीं है? यह बीमारी मेरे एक मित्र को भी हुई थी।" डाक्टर यह सुन कर कुछ घबरा से गए क्योंकि वे नहीं जाहते थे कि रानडे को यह मालूम हो जाय कि उनका रोग भयंकर है। डाक्टर ने उत्तर दिया कि "लक्षण मिला कर उसे आपका एंजिना पेक्टोरिस कहना बहुत ठीक है। पर आप को कल्पना के कारण ही इस रोग का भास होता है। इसका असल नाम स्यूडो एंजिना पेक्टोरिस है। इसमें रोगी को कल्पना मात्र के कारण ठीक उसी रोग का भास होता है। इस प्रकार के बहुत से रोग हैं जिनके वास्तव में न होने पर भी रोगी के मन पर उसका बड़ा प्रभाव और परिणाम होता है। यह भी उन्हीं में एक है।"

रानडे ने कहा—"इसमें कुछ "स्यूडो" (असत्य) अवश्य है। यह बीमारी ही "स्यूडो" है और नहीं तो कम से कम मुझे समझाने के लिये आप का यत्न ही "स्यूडो" है।" रानडे ने यह कहा था कि "मेरे एक मित्र को भी यह बीमारी हुई थी" इसका विवरण उन्होंने रमाबाई को संध्या समय बुला कर सुनाया-"कोई ३५ वर्ष हुए विष्णुपंत रानडे नामक हमारे एक मित्र थे। उनका स्वभाव शांत, उदार और बहुत अच्छा था। शरीर से भी वे अच्छे और बलवान् थे। उन्हें कोई व्यसन नहीं था। एक बेर घोड़े से गिरने के कारण उन्हें एंजिना पेक्टोरिस नामक बिमारी हुई थी। यद्यपि वे तीन वर्ष बाद तक जिए तो भी उनका जीवन महासंशयात्मक बना रहा। इसलिये डाकृरों ने उन्हें किसी प्रकार का श्रम न कर चुपचाप बिछौने पर पड़े पड़े पढ़ने लिखने से दिल बहलाने की राय दी। वे सदा घर में ही रहते और एक न एक आदमी उनके पास बैठा रहता। इतना होने पर भी एक दिन शौच के समय ही उनके प्राण निकल गए। इसलिये कोई नहीं कह सकता किस समय मनुष्य को क्या हो जायगा।"

रानडे बहुत दिनों से सोच रहे थे कि पेंशन लेकर देशसेवा करें। अब उन्होंने छुट्टी लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

१६०० की कांग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ रहे थे। सोशल कानफरेंस में जाने की तैयारी उन्होंने शुरू कर दी थी। बीमारी होने पर भी वे समाज-संशोधन संबंधी विवरण एकत्र

करते, पत्रों का उत्तर देते, भिन्न भिन्न संस्थाओं से आई हुई रिपोर्टों का सारांश लिखते। उन्होंने "वशिष्ठ और विश्वामित्र" शीर्षक लेख सोशल कानफरेंस में पढ़ने के लिये तैयार किया। इन सबसे जो समय बचता उसमें वे लाहौर जाने की तैयारी करते। बीमारी के कष्ट के कारण रमाबाई को भी साथ ले जाने का निश्चय हुआ। पूना के मित्र भी पहुँच गए। रेल के कमरे रिजर्व करा लिए गए। जिस दिन जाना निश्चय हुआ उसके एक दिन पहले अधिक परिश्रम के कारण रात को पेट का दर्द बहुत बढ़ गया। पीड़ा देर तक रही। रात भर नींद नहीं आई। बेचैनी बहुत बढ़ गई। सवेरे डाक्टर भालचंद्र बुलाए गए। पूना के मित्रों को भी सब हाल मालूम हुआ। सब ने लाहौर-यात्रा करने से मना किया। श्री० गोपाल कृष्ण गोखले ने समझाया कि डाक्टर का कहना मानना ही अच्छा है और कहा—"जो काम करने हों, मुझे बतलाइए, मैं आपके कथनानुसार सब कर लूँगा।" रानडे ने कहा—"अब सब काम तुम्हीं करोगे जी। यह सब तुम्हीं पर आ पड़ेगा। सब काम ठीक ठीक होगा, इसका जिम्मा तुम लो।" अंतिम वाक्य उन्होंने दो तीन बेर कहे। गोखले मौन रहे। रानडे का स्थानापन्न बन कर पूरी जिम्मेदारी लेना साहस का काम था। रमाबाई के समझाने पर उन्होंने जिम्मा लिया। इस पर रानडे ने कहा—"अठारह वर्ष तक बराबर जाकर अब यह विघ्न पड़ रहा है। यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गए। अपना व्याख्यान उन्होंने गोखले

के सपुर्द किया और अपने सौतेले भाई आबासाहब को पूना-वालों के साथ लाहौर भेज दिया। अपनी अनुपस्थिति पर क्षमा प्रार्थना का तार लाहौर भेज दिया और सब लोगों को ताकीद कर दी कि सोशल कानफरेंस के निर्विघ्न समाप्त होने पर एक तार भेज दें।

जिस दिन और लोग पूना गए उसी दिन रानडे घरवालों के साथ लोनावली गए। वहाँ पूना के मित्र उनसे मिलने आए और सब ने पूना चलने का आग्रह किया। इसी बीच में लाहौर के यात्री भी वापिस आ गए। वहाँ का विवरण सुन कर मन का बोझ हलका हुआ। इसके बाद समाचार पत्रों में गोखले और चँदावरकर के भाषण पढ़ कर उन्होंने उनको अपने हाथ से पत्र लिखे जिनका आशय यह था—"मुझे यह देख कर बड़ा संतोष हुआ कि भविष्य में यह भार उठाने के लिये तुम दोनों योग्य हो गए हो। इस संबंध में मुझे जो चिंता थी वह अब कम हो गई।"

लोनावली में उनका कष्ट बढ़ गया। इसलिये दस दिन के बाद वे फिर बंबई आ गए। वहाँ आकर कुछ फायदा मालूम होने लगा और नियमानुसार लिखना, पढ़ना और टहलना जारी हो गया। ८ जनवरी १९०१ से उन्होंने छ मास की छुट्टी ली और यह निश्चय कर लिया कि छुट्टी समाप्त होने पर पेंशन ले पूना जा कर रहेंगे। घरवालों को समझाया कि अब खर्च कम करना पड़ेगा क्योंकि आमदनी कम हो जायगी। छुट्टी

मंजूर हो गई और सरकारी चपरासी और सिपाही इनाम देकर कचहरी भेज दिए गए। सिपाही रोने लगे। एक चोबदार ने कहा कि दो सिपाही रख लिए जाँय और दो भेज दिए जाँय, क्योंकि नियमानुसार छुट्टियों में भी हाईकोर्ट के जज के दो अर्दली रह सकते हैं। रमाबाई ने कहा—"नहीं, हाईकोर्ट का यह नियम हो सकता है पर हमारा नियम ऐसा नहीं।" इस पर सब चपरासी दीवानखाने में रानडे के पास जाकर पैरों पर सिर रख रोने लगे। चले जाने पर फिर फिर कर वे लोग पीछे देखते थे।

रानडे ने इस समय पूना चलने की पूरी तैयारी कर ली। जिस बँगले में वे रहते थे उसके मालिक को भी उन्होंने लिख भेजा कि बँगला एक महीने के अंदर खाली हो जायगा। बँगले-वाले ने दूसरे ही दिन दर्वाजे पर 'किराए पर देना है' का इश्तिहार लगा दिया। इस पर उनके घरवालों ने बड़ा बुरा माना। रानडे ने कहा इसमें बुरा मानने की बात नहीं। घर की स्त्रियाँ कहतीं कि दूसरे ही दिन "To let" (टू लेट) की तख्ती लगानी थी तो केवल छ महीने के लिये घर छोड़ने की क्या जरूरत थी। रानडे ने बातचीत में कह दिया—"हमारी तबियत का हाल तुम लोग नहीं देखतीं? क्या तुम लोग समझती हो कि यह छुट्टी समाप्त करके मैं लौट आऊँगा।"

इस असह्य दुःख और चिंता के समय यह मालूम होता था कि रानडे अपने कष्ट को चुपचाप सहन कर रहे हैं। यदि

कोई तबियत का हाल पूछता तो कहते—"हाँ, चला ही चलता है। कभी अच्छे हैं तो कभी बीमार। व्याधि तो शरीर के साथ है। दवा हो ही रही है" अथवा "अह! मुझे तो सदा ऐसा ही होता है, इस लिये कहाँ तक इसका ख्याल किया जाय। मुझे कुछ विकार हो गया है उसीके कारण कभी कभी ऐसा होता है"—इत्यादि। परंतु घर के लोग और इष्ट मित्र समझ रहे थे कि अब खराबी आनेवाली है। इनके सामने तो सब गंभीर बने रहते थे पर इनके पीछे चिंतित अवस्था में ये लोग रोने लगते। रानडे ने अपने हृदय का विचार दबाने के लिये शांति से बोलना शुरू किया। वे अपना सब कष्ट चुपचाप सहन कर लेते। किसी दूसरे पर यथाशक्ति प्रगट न होने देते। सारा दिन लिखने पढ़ने में बिताते। यदि शरीर के किसी भाग में दर्द बहुत बढ़ जाता तो तेल लगवा लेते। देखनेवाले समझते थे कि किसी गंभीर विचार में मन लगा हुआ है। शांति में भेद एक दिन भी न पड़ा। मालूम होता था कि मानसिक बल और शारीरिक पीड़ा में युद्ध हो रहा है, और पहले के सामने दूसरे का कुछ जोर नहीं चलने पाता। बिछौने पर पड़ कर वे अवश्य काँखने लगते थे। बहुत चेष्टा करने पर भी कठिनाई से कुछ निद्रा आती थी परंतु जागते रहने पर इस तरह पड़े रहते मानो सोए हैं, जिससे और लोगों की नींद में फर्क न पड़े। सबेरे नियमानुसार उठ कर वे नित्यकर्म में लग जाते। दो पहर को भोजन के पश्चात् जब बातचीत करने बैठते तब प्रत्येक बात उपदेशपूर्ण

कहते, उसमें चिंता या निराशा का लेशमात्र न रहता। बच्चों से भी कुछ हँस बोल लेते।

इसी प्रकार कई दिन बीत गए। १४ जनवरी को पैर में सूजन आ गई जिसके कारण घर के लोग घबरा गए। परंतु डाक्टरों ने आश्वासन दिया कि घबराने की कोई बात नहीं है। उस दिन की रात को पीड़ा भी अधिक हुई। दूसरे दिन उनकी दृष्टि भी अपने सूजे हुए पैरों की तरफ़ गई। भोजन करने की ओर भी उस रोज़ रुचि नहीं थी। ग्रास थाली से उठा कर फिर उसी में रख दिया। कई दिन से घर के लोग उनके पीछे पड़े थे कि पढ़ना-लिखना छोड़ दें परंतु वे चुप रहते। इस दिन बहन के कई बेर कहने पर उन्होंने कहा—"बहुत अधिक कष्ट को कम करने के लिये यह तो साधन मात्र है, और विश्रांति का अर्थ क्या है? जिस पढ़ने में मन लगता है, समाधान होता है और छोटी मोटी वेदना यों ही भूल जाती हैं उसे छोड़ने से क्या विश्रांति मिलेगी? बिना कोई काम किए निरर्थक जीवन बिताने का समय यदि आजाय तो तत्काल ही अंत हो जाना उससे कहीं अच्छा है।"

उसी दिन जब सब लोग खाना खा चुके तब आप रमाबाई की ओर देख कर हँसे और बोले—"आज तुम्हारा भोजन अच्छा नहीं बना, इसलिये मुझे भी भूख नहीं लगी।" जिन पातिव्रत्य भावों का उद्गार उस दिन रमाबाई के चित्त में हुआ उनका परिचय उन्हीं के शब्दों में यहाँ कराना उपयुक्त होगा।

वे लिखती हैं—"मुख-शुद्धि के लिये फल और सुपारी देकर मैं ऊपर चली गई और किवाड़ बंद कर एक घंटे तक वहाँ पड़ी रही। अब मुझे अपने पागलपन का ध्यान आया तब मैं अपने आपको बुरा भला कहती हुई नीचे उतरी। कभी आशा और कभी निराशा और उसके बाद कुकल्पना ने मुझे पागल कर दिया था। किसी काम में मन नहीं लगता था। कभी स्त्रियों में जा बैठती और कभी आपके पास दीवानखाने में चली जाती। मैं बहुत चेष्टा करती थी कि इस दुष्ट मन में टेढ़ी मेढ़ी कल्पनाएँ न उठें परंतु वह मानता ही न था। मैं किसकी शरण जाऊँ ? मेरा सकट कौन दूर करेगा ? ईश्वर ! मेरी लाज तेरे हाथ है। आज तक कैसी कैसी बीमारियाँ हुईं, परतु तूने ही समय समय पर रक्षा करके मुझे जिस भाग्य-शिखर पर चढ़ाया है, आज क्या उसी शिखर पर से तू मुझे नीचे ढकेल देगा ? नहीं, मुझे विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। नारायण, मेरे होश सँभालने के समय से मेरे सारे सुख और आनद का केंद्र यही रहा है। इसलिये तू ही इसे सँभाल। मुझे शांति दे। इससे अधिक सुख मैंने किसी बात में नहीं माना। संसार में बाल बच्चों के न होने का विचार मेरे मन में नहीं आया। मैं इस सहवास में संतुष्ट और लीन हूँ। राजों, महाराजों और जागीर-दारों की स्त्रियाँ संतानों और अधिकार वैभव में चाहे कितनी ही बड़ी हों तो भी मुझसे अधिक सुखी नहीं हैं। आपकी प्राप्ति

से मुझे जो समाधान है उसकी उपमा नहीं है। ईश्वर इस समय रक्षण करने में तू ही समर्थ है।"

रानडे भी समझ रहे थे कि चारों ओर घर में व्याकुलता छाई हुई है। वे जानते थे कि यह समय रमाबाई के लिये अत्यंत क्लेश का है, इस लिये वे उनको अपने पास बैठने के लिये कहते। जब वे कहीं जाने लगतीं, तब उँगली पकड़ कर बैठा लेते और कहते—"कहीं जाने की जरूरत नहीं। अब कहाँ जाती हो, अभी तुम बीमारी से उठी हो, व्यर्थ नीचे ऊपर आने जाने का कष्ट न करो, जो काम हो लड़कों से कह दो या किसी नौकर को ही बुला कर यहाँ ठहरने के लिये कह दो जिससे तुम्हें घड़ी घड़ी न जाना पड़े।"

इन दिनों रात के समय डाक्टर घर ही पर रहने के लिये बुला लिए जाया करते थे। परंतु बुधवार १६ जनवरी का दिन प्रगट रूप में बड़ा भाग्यवान् था। रानडे का चित्त उस दिन बड़ा स्वस्थ था। डाक्टर को उस दिन उन्होंने स्वयं टेलीफोन के द्वारा सूचना दी कि आज रात को कष्ट करने की जरूरत नहीं। दिन भर का काम करके सायंकाल रमाबाई और अपने भाई के साथ गाड़ी पर वे हवा खाने गए और उन्हीं के साथ एक मील टहले। उन्हीं दिनों दुर्भिक्ष कमीशन भारतवर्ष में घूम रहा था। जयपुर के दीवान रायबहादुर कांतिचंद्र मुकर्जी उसके सभासद थे। जब कमीशन नागपुर पहुँचा तब राय कांतिचंद्र बहादुर की अचानक मृत्यु हो गई। रानडे जब घर पहुँचे, इस

मृत्यु का तार-समाचार उनको सुनाया गया। उन्होंने कहा—"काम करते हुए मरना भी कैसा आनंददायक है।" इसके बाद उन्होंने १८ पत्र लिखवाए, जस्टिन मैकार्थी कृत History of our own Times का एक अध्याय पढ़वा कर सुना और मिलनेवालों से बातचीत की। वे उन दिनों मिलनर कृत ईसाई धर्म का इतिहास भी पढ़ा करते थे।

उस समय भाटिया जाति की एक अल्पवयस्का कन्या विधवा हो गई थी। उन लोगों में कभी विधवा-विवाह नहीं हुआ था। इसलिये इस संबंध में रानडे से सलाह लेने बहुत से लोग आए थे। लोगों ने सोचा था कि इस जाति में नई बात होने के कारण बंबई के उस समय के गवर्नर की स्त्री लेडी नार्थकोट को विवाह के समय बुलाना चाहिए। रानडे ने इस प्रस्ताव को पसंद किया। रमाबाई से प्रार्थना की गई कि वे लेडी नार्थकोट से इस संबंध में मिलें। रमाबाई ने कहा कि यदि रानडे की तबियत अच्छी रही तो मैं जाऊँगी। इसके बाद रानडे ने विवाहवालों की जाति, अवस्था, संबंध इत्यादि विषयक प्रश्न पूछे और भाटिया जाति का इतना हाल उन्होंने स्वयं बतलाया कि सुननेवालों को उनके ज्ञान-विस्तार पर आश्चर्य हुआ। उन लोगों के चले जाने पर उन्होंने भोजन किया। तब घर की स्त्रियों ने प्रार्थना-समाज की भजनावली के कुछ गीत सुनाए। पीड़ा उठने का समय निकट आ रहा था, उसके लक्षण मालूम हो रहे थे। रात के ६-४५ पर वह बिछौने पर जा सोए और

आध घंटा अच्छी नींद आ गई। १०-१५ पर उनकी नींद एकाएक खुली और उन्होंने कहा कि मेरे कलेजे पर थोड़ा थोड़ा दर्द उठ रहा है। थोड़ी ही देर में इतना दर्द बढ़ गया कि वे बोले-"इस दर्द से मरना अच्छा"। तुरंत डाक्टर सर भालचंद्र को बुलाने के लिये टेलीफोन किया गया। पड़ोस में एक पारसी डाक्टर रहते थे। वे भी बुलवाए गए। पर डाक्टर के पहुँचने के पहले उनकी अवस्था बिगड़ चुकी थी। पतिव्रता रमाबाई के कंधे पर अपना सिर रख कर उन्होंने कहा—"अब मेरा अंत समय आ गया।" इसके बाद कै हुई जिसमें खून निकला और १०-३० के करीब आत्मा उनके शरीर से बिदा हो गई। जो सोलह जनवरी सवेरे बड़ी भाग्यवती मालूम होती थी वह बड़ी अभागिनी निकली। जो शरीर दिन के समय आल्हादित मालूम होता था वह केवल बुझती हुई ज्योति का अनुकरण कर रहा था। जिस महापुरुष ने ३५ वर्ष तक अपने देश का सिर ऊँचा करने के लिये अपनी विद्या, बुद्धि और परिश्रम से निरंतर उद्योग किया और एक दिन भी विश्राम न किया वह भी अंत में शांति को प्राप्त हुआ। घर के लोगों की रात कटनी मुश्किल हो गई। जिस सौतेली माता को उन्होंने जीवन में निज मातृतुल्य समझा था उसको यह मालूम होता था कि मानो अपना जाया पुत्र उससे अलग हो गया; जिस बड़ी बहन की आज्ञा का उल्लंघन करना वे अपने सिद्धांत के विपरीत समझते थे उस दुर्गा बहिन को उस दिन प्रतीत हुआ कि वह भाई जिसके

जीवन के उद्देश्य में बाधा डाल कर उनके आदर्श को वह न बदल सकी, कैसी दैवी शक्ति का महानुभाव था; जिन सौतेले भाइयों नीलकंठ आबा और श्रीपाद बाबा को वे अपने सगे भाई के समान समझते थे, उन लोगों के दुःख की कोई सीमा नहीं थी, पर हा! एक महापूजनीया देवी भी उसी शोकसागर में डूबी हुई थी। उसका जीवन इस महापुरुष के जीवन के साथ गुथा हुआ था, पर काल ने उसको भी अपनी कठोर परीक्षा में डाल ही दिया। इस देवी का अभ्युदय इस महापुरुष की कीर्ति का एक असाधारण स्तंभ है।

दूसरे ही दिन प्रातःकाल समस्त बंबई नगर में इनका मृत्यु-समाचार फैल गया। जिन्होंने एक दिन पहले सायंकाल उनको टहलते देखा था उन्हें थोड़ी देर तक इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ। परंतु सबेरे के समाचार-पत्रों द्वारा सूचना पाते ही उनके बँगले पर लोगों की भीड़ जमा होने लगी। सब से पहले चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस फूलों की एक बड़ी माला लिये हुए पहुँचे। हाईकोर्ट के कई जज, बंबई के प्रसिद्ध नेता और देशभक्त, धनाढ्य और पंडित एक दूसरे के बाद आने लगे। १० बजे ठीक मुर्दा उठाया गया। सब लोग साथ हो लिए। हाईकोर्ट के अंग्रेज जज भी कुछ दूर तक साथ गए। चीफ जस्टिस भी वहाँ तक जाना चाहते थे पर लोगों के मना करने पर वे भी बीच ही में से चले गए। रास्ते में एलफिंस्टन, मेडिकल और विलसन कालेजों के और आर्यन सोसायटी हाई-

स्कूल के विद्यार्थी आ मिले और सब चेष्टा करते थे कि शव के उठाने का अवसर मिले। रानडे को विद्यार्थीयों से बड़ा प्रेम था। उनसे वे सदा प्रसन्नता से मिलते थे और उनकी उन्नति के साधन सदा सोचा करते थे। जिस तरफ़ से मुर्दा जाता, हिंदू, मुसलमान, पारसी जो गाड़ियों पर सवार रास्ते में मिलते गाड़ी से उतर जाते। १२ बजे तक सब लोग मरघट पर पहुँचे। चंदन की लकड़ियों पर शव रक्खा गया, उनके सौतेले भाई नीलकंठ राव ने दाह संस्कार किया। घर के लोगों ने पौराणिक रीति से अंत्येष्टि क्रिया की परंतु प्रार्थना समाज के (जिसके रानडे सभापति थे) सभासदों ने अपने ढंग पर संस्कार किया। दोनों संस्कार एक ही समय पर हुए। एक भ्रमात्मक किंवदंती मुसलमानों में उस दिन फैल गई कि इस मुर्दनी में मुसलमानों का रहना मना है। इस कारण मुसलमान नहीं आए। रानडे के मुसलमान मित्रों को बड़ा दुःख हुआ, पर यह भ्रम दूर कर दिया गया। सर भालचंद्र कृष्ण और मिस्टर वैद्य, हेडमास्टर आर्यनसोसायटी हाईस्कूल ने शोक प्रकाशक व्याख्यान दिए। जब शव जल चुका तब राख दूध से बुझाई गई और उनकी बहिन के इच्छानुसार प्रयाग लाकर त्रिवेणी में उसका प्रवाह किया गया।

समाचार सारे देश में फैला। तार और चिट्ठियाँ आनी शुरू हो गईं जिनकी संख्या एक सहस्र कही जाती है। सहानुभूति प्रगट करनेवालों में बड़े लाट लार्ड कर्जन, बंबई के लाट

लार्ड नार्थकोट, महाराजा गायकवाड, महाराजा होलकर, महाराजा कोल्हापुर प्रभृति थे। वाइसराय ने अपने तार में लिखा था कि रानडे की मृत्यु से देश ने केवल एक प्रसिद्ध जज ही नहीं खोया परंतु ऐसे देशभक्त को खोया है जिसने अपना सारा जीवन प्रेमपूर्वक अपने देशवासियों की उच्च धार्मिक उन्नति और विद्या-वृद्धि में लगा दिया। २२ जनवरी को गवर्मेंट ने एक पत्र प्रकाशित किया जिसका आशय यह था—

हिज एक्सेलेंसी दी गवर्नर-इन-कौंसिल ने आनरेबल मिस्टर जस्टिस महादेव गोविंद रानडे सी० आई. ई., एम. ए., एलएल बी. की जो बंबई में हर मैजेस्टीज हाईकोर्ट ऑव ज़ुडीकेचर के जज थे मृत्यु का समाचार बड़े दुःख से सुना। वह इस अवस्था में मिस्टर रानडे के परिवार के साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं। मिस्टर रानडे की मृत्यु से देश से एक प्रसिद्ध और सच्चा देशभक्त उठ गया, जिसकी प्रसिद्धि उतनी ही उसकी विद्वता की गंभीरता के कारण थी जितनी उसके विचार की सौम्यता और चरित्र की वीरोपम स्वतंत्रता के कारण।"

समाचार-पत्रों ने रानडे के जीवन पर 'महामति रानडे' 'ऋषी रानडे' 'न्यायमूर्ति रानडे' शीर्षक बड़े बड़े लेख लिखे। यद्यपि अपने राजनैतिक विचारों के कारण वे भारतीय अंग्रेजों में सर्वप्रिय नहीं थे परंतु इस समय इन्होंने भी मुक्तकंठ से इनकी योग्यता और उदारता स्वीकार की। एक पत्र ने लिखा

कि यदि ये सरकारी नौकरी की तरफ प्रवृत्त न होते तो अपने समय के राममोहन राय होते ।

अनेक नगरों में शोक प्रगट करने के लिये सभाएँ हुईं। जिस प्रकार हर दल के समाचार पत्र इस शोक में सम्मिलित हुए उसी प्रकार हर दल के नेता सभाओं में आए। पूना की मीटिंग में श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक, जिनसे सोशल कानफरेंस के संबंध में रानडे से स० १८९५ में मतभेद हुआ था, व्याख्यान देते हुए शोक से इतने विह्वल हो गए कि बोलना मुश्किल हो गया और वे बोलते बोलते बैठ गए। तिलक महाशय ने अपने 'मराठा' पत्र में रानडे के चरित्र की बृहत् समालोचना की जिसके एक अंश का यहाँ अनुवाद दिया जाता है—

"सर्वज्ञ-विद्वता, सार्वजनिक सहानुभूति और पवित्रतम देशहितैषिता रखनेवाले इस महापुरुष की मृत्यु से जाति की कितनी क्षति हुई है इसका अंदाजा करना कठिन है। वे यथार्थ में उन्नीसवीं शताब्दी के एक ऐसे पुरुष थे जिनको एक शताब्दी भी अपने पेट से जिसमें सदा उत्पत्ति होती ही रहती है, कठिनाई से पैदा कर सकती है। उनकी मृत्यु से जनता ने एक प्रदर्शक, दिव्यद्रष्टा और मित्र खो दिया।"

बंबई के टाइम्स ऑव इंडिया ने जो अंग्रेजों का पत्र है लिखा—" भारतवासियों में सबसे प्रबल और सब से अधिक श्रद्धा उत्तेजक पुरुष हम लोगों में से चल बसा। हम लोगों को गत शताब्दी के पूर्व भाग के इतिहास में राममोहन राय

का दृष्टांत रानडे की समानता पाने के लिये ढूँढ़ना पड़ता है कि जिसमें अनेक प्रकार के गुण और भिन्न भिन्न विषयों की योग्यता हो; जिसका राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सब विषयों पर पूर्ण अधिकार हो और उसका प्रभाव पड़े। उनके मस्तिष्क की शक्तियाँ विलक्षण थीं। अंतिम शब्द जो उनके विषय में कहा जा सकता है वह यह है कि देश-सेवा में अब तक जितने आदमियों ने नाम पाया है उनमें से कोई भी इनके बराबर क्रोध और वैमनस्य से रहित नहीं था।"

दादाभाई नौरोजी ने जो उनके गुरु थे यह लिखा—"मैंने इस समाचार को बड़े दुःख से सुना। मुझे यह बड़ी जातीय क्षति मालूम होती है। रानडे का सा दूसरा मिल ही नहीं सकता। उनका स्थान खाली रहेगा। सर्वसम्मति से समस्त भारत में वह प्रथम श्रेणी के भारतवासी थे, विशेष कर समाज-संशोधन के निरंतर कार्य में। उनका सारा मन और उनकी आत्मा भारत की भलाई के साथ गुथी हुई थी। कई देशभक्त लोगों के वे पथ-प्रदर्शक और नेता थे। उनकी बुद्धि और सलाह पर आदमी भरोसा कर सकता था। जो उनका कुछ भी हाल जानता है उसको ऐसा मालूम होगा कि मानो उसके घर ही का आदमी मर गया। उनका आदर हर जाति और हर समाज में था। भारत की उन्नति के इतिहास में उनकी स्थिति निराली ही थी। यदि किसी कार्य में वे सरकारी नौकर होने के सबब से खुल्लमखुल्ला काम नहीं कर सकते थे तो उसमें

भी कार्यकर्त्ता लोगों को उनसे बड़ी बुद्धिमत्ता की सलाह मिलती थी।"

रानडे की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिये जितनी सभाएँ हुईं उनमें से दो बड़े महत्त्व की थीं। एक बंबई की जिस में उस प्रांत के गवर्नर लार्ड नार्थकोट ने सभापति का आसन ग्रहण किया था और दूसरी पूना की जिसमें सर चार्लस् ऑलिवंट जो उस समय बंबई प्रांत की कौंसिल के सीनियर मेंबर थे, सभापति हुए थे। दोनों में हिंदू, मुसलमान और अंग्रेज शरीक हुए थे। बंबई की सभा में हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर लारेंस जेंकिंस ने और पूना की सभा में डाक्टर सेल्बी ने जो आगे चल कर उस प्रांत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हुए, बड़े करुणोत्पादक व्याख्यान दिए। चीफ जस्टिस साहेब ने प्रायः वेही बातें कहीं जो उन्होंने हाईकोर्ट में कही थीं—"रानडे न केवल योग्य और प्रसिद्ध जज थे बल्कि एक बड़े और अच्छे आदमी थे जिनकी मृत्यु एक प्रकार से सामाजिक विपद समझनी चाहिए। उनकी मृत्यु दुखदायिनी है, जो एक प्रकार से दुःखांत नाटक की नाईं हुई। जिस छुट्टी में इतने वर्षों के परिश्रम के उपरांत कुछ विश्राम आवश्यक था और जिसके अनंतर हम सब लोग समझते थे कि वे फिर भले चंगे होकर उसी उत्साह से कार्य करेंगे, जैसा वे किया करते थे, उस छुट्टी के आरंभ ही में वे अचानक चल बसे; मरे भी ऐसे समय में जब वे अपने देश के साहित्य की अमूल्य सेवा

में लगे हुए थे, जब उनके देशवासियों के जिनकी भलाई उनके हृदय में रहती थी इतिहास का ऐसा कठिन समय आ गया था कि उनकी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, सौम्यता और सहानुभूति की आवश्यकता थी। अपने जीवनकाल में उन्होंने अपने उत्कृष्ट उद्देशों और आशाओं में बड़ी सफलता प्राप्त की और जितनी प्रतिष्ठा, जिसकी उन्होंने कभी चाह नहीं की, उनकी की गई वह सचमुच उनके गुणों और उनकी योग्यता के कारण थी। अब वे चल दिए परंतु उनकी याद हमारी संरक्षित संपत्ति होगी क्योंकि वे अपने पीछे बहुमूल्य धन छोड़ गए हैं जो उनके सात्विक, निश्छल और उच्च-जीवन का उदाहरण है"-इत्यादि।

डाक्टर सेल्बी ने जो अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे, रानडे के विद्यानुराग की प्रशंसा की—"उनको सत्य की खोज की धुन थी और जो सत्य है उसी को वे मानते थे। उनके भाव विशाल थे"—इत्यादि।

बंबई और पूना की सभाओं ने निश्चय किया कि उन दोनों नगरों में उनके स्मारक बनाए जाँय। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अपने अपने नगरस्थ स्मारक के लिये पूना के लोग दक्खिन भाग में और भारत के अन्य प्रांतों में धन एकत्र करें और बंबई के लोग बंबई नगर में और बंबई प्रांत के अन्य हिस्सों में। बंबई के स्मारक का रूप रानडे की एक मूर्त्ति है जिसका निर्माण प्रसिद्ध भारतवासी म्हात्रे ने किया है और पूना के स्मारक का रूप रानडे इंस्टीट्यूट नाम की संस्था है। इस इंस्टी-

ट्यूट के लिये एक लाख रुपया जमा किया गया जिसमें से ८० हजार केवल दक्खिन प्रांत का है और मध्यदेश ने ११०००) तथा बरारवालों ने २५००) जमा किया। शेष इधर उधर से आया। इस धन के व्याज के अतिरिक्त म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों और देशी रियासतों से भी वार्षिक आय हो जाती है जिससे यह संस्था चल रही है। १५ अक्तूबर १९१० को सर जार्ज क्लार्क ने (जो अब लार्ड सिडनहम हैं) इसको खोला। इस संस्था के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(१) देश में औद्योगिक, कलाकौशल संबंधी और वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार।

(२) अन्य देशों की ऐसी ऐतिहासिक, गणनात्मक और अन्य प्रकार की बातों को जमा करना जिनसे भारत की औद्योगिक उन्नति में लाभ हो।

(३) समय समय पर भारत की आर्थिक अवस्था, आवश्यकताएँ और आशाओं पर योग्य पुरुषों की समालोचनाओं को प्रकाशित करना।

(४) धन मिलने पर ऐसे विद्यार्थियों का जो विज्ञान, इंजिनिअरिंग और अन्य कलाकौशल में योग्यता रखते हों और जिनकी रुचि भी इस ओर हो, विलायत, जापान और अन्य देशों में उन वस्तुओं का बनाना सीखने के लिये भेजना जिनके बनाने की सामग्री इस देश में बहुतायत से मिलती है और इस कारण जिनके बनाने में फायदा है।

(५) ऐसे विद्यार्थियों को भारत में लौटने पर इस बात की सुगमता प्रदान करना कि वे थोड़े थोड़े प्रयोगों द्वारा निश्चय कर सकें कि जिन वस्तुओं का बनाना उन्होंने सीखा है उनके तैयार करने में वे कृतकार्य किस प्रकार हो सकते हैं।

(६) अन्य रीतियों द्वारा इस देश की औद्योगिक अवस्था को सुधारना।

इस संस्था में तीन विभाग हैं—

(क) कलाकौशल प्रवर्त्तक रासायनिक प्रयोगशाला, जिस के लिये आरंभ ही में दस हजार रुपए का सामान आया था।

(ख) औद्योगिक विषयों संबंधी संग्रहशाला जिसमें एक पुस्तकालय है और एक अजायबघर है। पुस्तकों और अजायब-घर की वस्तुओं का संग्रह ऐसा है जिससे भिन्न भिन्न देशों की कारीगरी और इस देश की भावी औद्योगिक उन्नति का पता लगता है। इस संबंध में किसी प्रकार की यदि कोई जिज्ञासा करना चाहे तो उसको उचित परामर्श देने का भी प्रबंध है।

(ग) छात्रवृत्ति कोष जिससे उन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रबंध किया जाता है जो प्रयोगशाला में काम समाप्त कर चुकते हैं। जिस रोजगार की ओर उनकी प्रवृत्ति होती है उसके संबंध में भारत के भिन्न भिन्न भाग में जाकर उनको अनुसंधान करना पड़ता है। अपने देश में घूम आने के बाद यदि वे विदेश जाना चाहें तो उसका भी प्रबंध किया जाता है।

इस स्मारक का सब से उपयोगी अंग उसकी प्रयोगशाला

है। इसका एक अवैतनिक डाइरेक्टर होता है। एक सहायक डाइरेक्टर भी नियुक्त होता है जो विज्ञान में एम. ए. होता है। इसमें जो विद्यार्थी प्रयोग करते हैं उनके भोजनादि का व्यय दिया जाता है। अभी तक सीमेंट, तेल, साबुन, मोमबत्ती, दियासलाई, चीनी इत्यादि संबंधी उद्योगों का प्रयोग सिखलाया जाता है। इस समय इसका प्रबंध फर्ग्युसन कालेज के एक अध्यापक के अधीन है। इस स्मारक का यश माननीय गोखले को है क्योंकि उन्होंने इसके लिये बड़ा परिश्रम किया था।

उनका एक स्मारक मद्रास में है। इसका नाम रानडे पुस्तकालय है। इसकी नींव मद्रास निवासियों ने २४ जुलाई १६०४ को माननीय गोखले से दिलवाई थी। इस पुस्तकालय में न केवल पुस्तकें और समाचार पत्र आते हैं बल्कि इसके साथ एक साउथ इंडिया एसोसिएशन है जिसमें इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, उद्योग और विज्ञान शास्त्र संबंधी पठन पाठन और अनुसंधान होता है। इस समय तक इस संस्था द्वारा इतिहास और अर्थशास्त्र संबंधी संतोषजनक कार्य हुआ है।

इनके साथ साथ अनेक स्मारकों की चर्चा अन्य स्थानों में भी उठाई गई थी। अहमदाबाद के सोशल कानफरेंस के अधिवेशन में समाज-संशोधन संबंधी स्मारक बनवाने का विचार था परंतु उसका कुछ विशेष हाल सुनने में नहीं आया। हमारे देश में जितने उत्साह से स्मारकों का प्रस्ताव उठाया जाता है उतने उत्साह से काम नहीं होता। इसके अनेक कारण

हैं। एक तो हमलोगों का जोश प्रायः क्षणभंगुर होता है। दूसरे अनेक धन देनेवाले वादा करके नहीं देते। तीसरे ऐसे लोगों के स्मारक बनाने की चर्चा अधिक उठती रहती है जिनके द्वारा लाभ के बदले हानि अधिक हुई हैं और चौथे अच्छे कार्यकर्ताओं का अभाव है। रानडे का सबसे बड़ा स्मारक माननीय गोखले थे। ईंट पत्थर के स्मारक बना ही करते हैं परंतु रानडे के कीर्ति-भवन के दो स्तंभ सदा स्मरणीय रहेंगे। एक श्रीमती रानडे और दूसरे श्रीयुत् गोखले। इन दोनों को देशभक्ति के लिये रानडे ही ने तय्यार किया था। श्रीमती रानडे की जीवन चर्चा ऊपर आ चुकी है। यहाँ गोखले महाशय का अत्यंत संक्षिप्त वर्णन अनुपयुक्त न होगा, विशेष कर उनके जीवन का वह अंश जिस पर रानडे का प्रभाव पड़ा था।

गोपाल कृष्ण गोखले।

इनका जन्म १८६६ ई० में जिला रत्नागरी में हुआ था। एफ. ए. पास करने के बाद इन्होंने एलफिंस्टन (बंबई) कालेज से १८८४ में बी ए. पास किया। उस समय उनकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी। थोड़े दिन न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापक रहने के बाद उन्होंने अपना जीवन फर्ग्युसन कालेज की सेवा करने के लिये समर्पण कर दिया। इस कालेज का प्रबंध डेकन एज्यूकेशन सोसायटी के अधीन है। गोखले इसके स्थायी सभासद हुए। स्थायी सभासदों को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है

कि २० वर्ष तक कालेज में ७५) मासिक पर कार्य करेंगे। २० वर्ष के बाद ३०) मासिक पेंशन मिलती है। गोखले इतिहास और अर्थ शास्त्र के अध्यापक हुए परंतु कभी कभी उनको अंग्रेजी साहित्य और गणित भी पढ़ाना पड़ता था। पढ़ाने के काम के साथ साथ आप छुट्टियों में इधर उधर जा कर कालेज के लिये भिक्षा माँगते थे। कहा जाता है कि थोड़ा थोड़ा करके उन्होंने इसी प्रकार २ लाख जमा किया था। चंदा माँगने के लिये बाहर जाने के कारण प्रायः प्रत्येक जिले के अग्रगण्य लोगों से उनसे परिचय हो गया था।

कालेज की सेवा के साथ साथ उन्होंने अन्य संस्थाओं में भी काम करना आरंभ कर दिया। उन दिनों दक्खिन प्रांत में रानड़े की कार्यकुशलता, विद्वत्ता और देशभक्ति की बड़ी चर्चा थी। रानडे को नवयुवक लोगों से बड़ा प्रेम था। किसी होनहार युवा को देख कर वे उसको तुरंत अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। रानडे और गोखले अनेक संस्थाओं के संबंध में एक दूसरे से मिलने लगे। गोखले की श्रद्धा उन पर इतनी बढ़ गई कि वे सब कार्य उनसे पूछ कर करने लगे। सार्वजनिक सभा उन दिनों राजनैतिक कार्यों में बड़ी प्रसिद्ध थी। गोखले उसके उपमंत्री थे। जब मंत्री का पद खाली हुआ लोगों ने गोखले को इस पद पर चुनने का प्रस्ताव किया। रानडे ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिये एक सरकारी विभाग की रिपोर्ट देकर उसका सारांश लिखने के लिये कहा। रिपोर्ट कड़

विषय कठिन था। गोखले अपने जीवनकाल में अनेक बार इस कथा को बड़े अभिमान से कहा करते थे कि रानडे ने उनका लेख देख कर कहा था "हाँ, इससे काम चल जायगा"। सार्वजनिक सभा की एक त्रैमासिक पत्रिका थी। इसमें राजनैतिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख निकला करते थे, सरकारी रिपोर्टों की समालोचना और ऐतिहासिक तथा अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांतों की विवेचना होती थी। इसके अतिरिक्त सभा की ओर से सरकारी नियमादि पर गवर्नर की सेवा में मेमोरियल भेजे जाते थे। गोखले सभा की पत्रिका के संपादक थे और मेमोरियल आदि भी लिखा करते थे। यह कार्य रानडे और गोखले मिलकर किया करते थे। वे घंटों बैठ कर सरकारी रिपोर्टों को पढ़ते, जिस विषय की रिपोर्ट होती उस विषय के अन्य ग्रंथ भी मँगा कर पढ़े जाते। कभी कभी अन्य प्रांतों और दूसरे देशों की भी सरकारी रिपोर्टें मँगाई जातीं। गोखले लेख लिखकर रानडे को दिखलाते। उसका संशोधन होता या लेख के संतोषजनक न होने पर रानडे स्वयं लिख देते। लेखों का विषय प्रायः अर्थ संबंधी अथवा शासन संबंधी हुआ करता था। उन्हीं दिनों सुधारक नाम पत्र अंग्रेजी और महाराष्ट्र भाषा में निकाला गया। अंग्रेजी विभाग के संपादन का कार्य गोखले के सपुर्द हुआ। कभी कभी गोखले महाराष्ट्र भाषा में भी जिसके लिखने और बोलने का उनको अच्छा अभ्यास था, लेख लिखते थे। उन्होंने महाराष्ट्र भाषा में शिवाजी की एक काल्पनिक

कहानी लिखी थी जिसमें महाराष्ट्र वीर के औरंगज़ेब के पंजे से निकलने पर तीर्थ स्थानों में घूमते हुए जगन्नाथपुरी जाने की कथा थी।

४ वर्ष तक गोखले सुधारक पत्र के संपादक, ६ वर्ष तक पूना सार्वजनिक सभा के मंत्री और सभा की पत्रिका के संपादक रहे। बंबई की प्रांतिक कानफरेंस के भी वे ४ वर्ष तक मंत्री रहे। १८९५ की कांग्रेस के जो पूना में हुई थी मंत्रीदल में वे भी थे।

अब तक गोखले की प्रसिद्धि पूना नगर के बाहर केवल बंबई प्रांत तक फैली थी। परंतु १८९७ के अप्रैल महीने में यह पूना की दक्खिन सभा की ओर से वेलबी कमीशन को भारत की यथार्थ आर्थिक अवस्था बतलाने के लिये विलायत गए। इस काम के लिये कई संस्थाओं से भारत के अन्य अग्रगण्य नेता भी भेजे गए थे। गोखले अभी ३१ वर्ष के युवा थे। कमीशनवालों ने भारत के प्रतिनिधियों की बड़ी कड़ी परीक्षा ली। कई पुराने नेताओं के इजहार बिगड़ गए पर गोखले प्रत्येक प्रश्न का उत्तर बड़ी योग्यता से देते थे। इससे उनका नाम सारे भारतवर्ष में फैल गया। जो वक्तव्य गोखले ने कमीशन के लिये लिखा था उसमें रानडे ने बड़ी सहायता दी थी। ऐसे समय में जब कि गोखले का नाम देश में फैल रहा था एक ऐसी घटना हुई कि जिसका उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जब वे विलायत में थे बंबई में प्लेग फैला। इसके पहले यहाँ कभी यह

महामारी नहीं फैली थी। इसलिये राजकीय कर्मचारी और प्रजा दोनों घबरा गए। प्लेग से बचाने के लिये सरकार ने जो नियमादि बनाए और जो कार्रवाइयाँ कीं उनसे देश में बड़ा असंतोष फैला। यहाँ तक कि दो यूरोपियन अफसर जो गवर्नमेंट हौस के भोज से लौट रहे थे मार डाले गए। इससे विलायत में बड़ी चिंता फैली। इधर गोखले के मित्रों ने उनको असंतोष की अवस्था लिखनी शुरू की। गोखले ने जवानी के जोश में आकर इस विषय पर वहाँ आंदोलन आरंभ कर दिया। विलायत के समाचार पत्रों में लेख लिखे, पार्लियामेंट के सभासदों को सुनी हुई सब व्यवस्था सुनाई। इस पर बंबई सरकार गोखले से अत्यंत अप्रसन्न हुई और उसने चाहा कि जो शिकायत उन्होंने विलायत में की उसको वे सिद्ध करें। इधर गोखले के मित्रों ने जिनके पत्रों के आधार पर उन्होंने आंदोलन उठाया था उनसे विनयपूर्वक प्रार्थना करनी शुरू की कि हमारा नाम न बतलाया जाय। जो मित्र प्रति सप्ताह पत्र पर पत्र लिखकर भेजा करते थे उनमें से एक भी साहसी न निकला। गोखले के हिंदुस्तान लौटने का समय आ गया। जो युवा बड़े उत्साह से देश-सेवा के लिये विलायत गया था, जो अपना कर्त्तव्य पालन करके जिसके लिये वह भेजा गया था अपना सिक्का जमा सका, वह अब स्वदेश में लौट कर सरकारी कोप का कवर बननेवाला है। उसके सब मित्रों ने उसको छोड़ दिया है। चारों ओर से खबर सुनाई दे रही है कि वह युवा जहाज से उतरते ही पकड़ा

जायगा। गोखले के सामने अब तीन रास्ते थे। या तो वे अपने मित्रों का नाम बतला कर आप बच जाते या आप सजा पाने के लिये तैयार हो जाते या सरकार से क्षमा मांग लेते।

जिस समय जहाज बंबई पहुँचा उनका एक भी मित्र उनसे मिलने नहीं पहुँचा। रानडे उस समय बंबई हाईकोर्ट के जज थे परंतु तिस पर भी वे निर्भय हो कर उनसे जहाज पर मिले। अंत में गोखले ने तीसरे उपाय का ही अवलंबन किया और सरकार को क्षमापत्र लिख दिया। कहा जाता है कि ऐसा करने की सलाह रानडे ने दी थी। कोई दूसरा आदमी ऐसी बड़ी घटना होने पर देश-सेवा छोड़ देता। परंतु गोखले ने प्लेग से पीड़ित लोगों की सेवा के लिये स्वयंसेवक लोगों की समिति बनाई और इसमें बड़े उत्साह से काम करना शुरु किया। सरकार ने एक प्लेग कमीशन बैठाई। उसके गोखले भी सभासद् चुने गए।

१८६६ के आरंभ में वे बंबई की कानून बनानेवाली कौंसिल के सभासद् चुने गए और दो वर्ष तक इस कौंसिल में रहे। १६०१ में वे बड़े लाट की कौंसिल के सभासद चुने गए। उन्हीं दिनों रानडे की मृत्यु हुई थी। गोखले ने फर्ग्युसन कालेज के प्रसिद्ध प्रिंसिपल रघुनाथ पुरुषोत्तम परांजपे को जो उनके शिष्य हैं उस समय एक पत्र लिखा था; जिसका अनुवाद नीचे दिया जाता है।

फर्ग्यूसन कालेज,
पूना।
१२ अप्रैल १९०१

मेरे प्यारे परांजपे,

जब मैंने आप को अपना पिछला पत्र लिखा था उसके अनंतर मेरे महान गुरु रानडे इस संसार से चल बसे। उनकी मृत्यु से मेरे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसको मैं शब्दों में प्रगट नहीं कर सकता। मुझे मालूम होता है कि मानो मेरे जीवन के सामने अचानक अंधेरा छा गया है और देश-सेवा करने से जो संतोष हुआ करता है उसका अत्युत्तम भाग, थोड़े दिनों के लिये, दूर हो गया है। मैं अवश्य मानता हूँ कि यह मेरा धर्म है, जैसा कि अन्य लोगों का भी है, कि हम लोग युद्ध जारी रक्खें धीरे ही धीरे सही, परंतु विश्वास और आशा के साथ जिसमें उस झंडे को जो उन्होंने उठाया था अपने निर्बल हाथों से खड़ा रखें और उन आदर्शों को जिनके लिए उन्होंने अपना अद्वितीय जीवन दिया प्रेम और श्रद्धा से हृदय में रखें। परंतु यह सब मैं स्वप्न की बातें कर रहा हूँ। मुझे नहीं मालूम कि मेरे ऐसे आदमी इस काम का थोड़ा अंश भी कर सकेंगे। जो कुछ हो, प्रयत्न अवश्य किया जायगा और तब हम मनुष्यों की जिम्मेदारी जाती रहेगी।

मिस्टर फीरोजशाह मेहता ने बड़े लाट की कौंसिल की मेंबरी से इस्तीफा दे दिया और उनके परामर्श से बंबई कौंसिल

ने बहु सम्मति से मुझे उनके स्थान पर चुना है। मैं जानता हूँ कि मेरे मित्रों ने मुझ पर बड़ी कृपा की है परंतु जिम्मेदारी भी बड़ी है और मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि मैं अपने नवीन कर्तव्यों के पालन से अपने मित्रों और जनता को संतुष्ट कर सकूँ।

आपका सदा का सच्चा मित्र,

गोपाल कृष्ण गोखले।

गोखले ने बड़े लाट की कौंसिल में बड़े परिश्रम, उत्साह और योग्यता से काम किया। वार्षिक हिसाब के लेखे पर जो विचार वे प्रगट किया करते थे उससे कौंसिल पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे प्रत्येक विषय पर तैयार जाते थे। जिस विभाग की वे त्रुटियाँ बतलाते थे उस विभाग के सभासद सदा चौकन्ने रहते थे। बजट बनाने में उन्होंने जितने प्रस्ताव पेश किए थे प्रायः सब स्वीकार किए गए थे। यों तो कौंसिल में उनके सब काम महत्व के हुए हैं परंतु उनकी कीर्ति उनके उस प्रस्ताव के लिये इतिहास में अंकित होगी जिसके द्वारा १६१२ में उन्होंने इस देश में प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्त करने पर बाध्य करने की प्रेरणा की थी। यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ परंतु इस देश भर में उनके इस प्रस्ताव के कारण जाग्रति हो गई।

१६०४ के अंत में उन्होंने फर्ग्युसन कालेज छोड़ दिया। गोखले पूना की म्यूनिसिपैलिटि के १६०५ में सर्व सम्मति से सभापति चुने गए और दो तीन वर्ष तक बड़ी सुंदरता से वे काम करते रहे।

१६०५ में गोखले कांग्रेस के सभापति चुने गए जो उस वर्ष बनारस में हुई थी। बनारस कांग्रेस के बाद वे फिर विलायत गए। कहा जाता है कि लार्ड मार्ले और लार्ड मिंटो के समय में शासन में जितने सुधार हुए उनमें से बहुत से गोखले के बतलाए हुए थे, क्योंकि वे विलायत में सेक्रेटरी आव स्टेट और अन्य उच्च पदाधिकारियों से बहुत मिला करते थे। सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल में दो हिंदुस्तानियों का होना, बड़े लाट की कौंसिल में और प्रांतिक कौंसिलों में भी एक एक हिंदुस्तानी का चुना जाना, कौंसिलों में सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों की संख्या का बढ़ना, उनको नए प्रस्ताव पेश करने का अधिकार देना इत्यादि सुधार गोखले के कारण हुए हैं। १६०७ में गोखले ने संयुक्त प्रांत और पंजाब के अनेक नगरों में यात्रा की। उस समय राजनैतिक विषयों पर दो दल हो गए थे। एक गरम दल और दूसरा नरम दल। छोटे बच्चों पर गरम दल की गरमी चढ़ रही थी। गोखले ने अपनी इस यात्रा में हिंदू मुसलमानों में मेल, स्वदेशी, विद्यार्थियों के कर्तव्य इत्यादि विषयों पर व्याख्यान दिए। जिस स्थान पर वे जाते थे वहाँ हिंदू और मुसलमान दोनों उनका आदर करते थे और नरम और गरम दलवाले दोनों उनकी बातें श्रद्धा से सुनते थे। इस यात्रा का कष्ट उठा कर गोखले ने विद्यार्थी समाज पर बड़ा उपकार किया था, क्योंकि उन दिनों अनेक स्थानों पर विद्यार्थीगण देश के नेताओं का निरादर करने पर उतारू हो गए थे।

१६१२ में गोखले दक्षिण अफ्रिका गए। उनका तात्पर्य इस यात्रा में यह था कि भारतवासियों पर वहां जो अन्याय हो रहा था उसको दूर करें। इस बड़े महत्व के काम में भारतीय गवर्नमेंट ने और विशेष कर लार्ड हार्डिंज ने भी उनकी बड़ी सहायता की थी। गोखले के दक्षिण अफ्रिका जाने का वहाँ के लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वहां के भारतवासियों में बल और आशा का संचार आ गया और वहां के उच्च कर्मचारियों से उन्होंने स्वयं भेंट की।

इस यात्रा में उनसे और कर्मयोगी गांधी से बड़ा स्नेह हो गया था। वहां से आकर उन्होंने अपने व्याख्यानों में कहा था कि उनको अपने जीवन में केवल तीन महापुरुष ऐसे मिले जिनके सामने जाने ही से मनुष्य के मन में दुर्विचार नहीं आते। एक दादाभाई, दूसरे रानडे और तीसरे गांधी।

१८९६ में जब गांधी जी भारतवर्ष में दक्षिण अफ्रिका के भारतवासियों की कठिनाइयों पर विचार करने के लिये आए थे उसी समय उनके मन पर गोखले का बड़ा प्रभाव पड़ा था। एक लेख में वे लिखते हैं "मैं (फर्ग्युसन) कालेज में उनके घर पर उन से मिला। मुझे मालूम होता था कि हम लोग मानों पुराने मित्र अथवा मेरी माता वर्षों के वियोग के पीछे मिली है। उनकी शांत मूर्ति ने एक क्षण में मुझे शांत कर दिया। मेरे और दक्षिण अफ्रिका में मेरे कार्य के संबंध में छोटी छोटी बातों पर भी जो उन्होंने मुझ से प्रश्न किए, उनके कारण मेरे

हृदय में उन्होंने स्थान पा लिया। जब मैं विदा होने लगा मैंने अपने मन में कहा, "बस तुम्ही मेरे आदर्श हो।" उस समय से गोखले ने मुझे अपने मन से दूर नहीं किया। १६०१ में दक्षिणी अफ्रिका से जब मैं दूसरी बेर आया तब हम लोगों का संबंध और भी घनिष्ट हो गया, मेरे भोजन छाजन, चलने, बोलने आदि की भी उनको चिंता रहती। मेरी मां भी गोखले से अधिक मुझसे प्यार नहीं करती थी। जहां तक मैं जानता हूँ वे मुझसे कोई बात नहीं छिपाते थे। हम लोगों में आँखें चार होते ही प्रेम हो गया था और उसको उन्होंने १६१३ की तीक्ष्ण परीक्षा में भी निभाया। राजनैतिक कार्यकर्ताओं में जितने गुण होने चाहिएँ मैंने सब उनमें पाए—बिल्लौर की सी स्वच्छता, मेमने की सी नम्रता, शेर की सी वीरता और दया तो इतनी कि वह एक प्रकार का दोष हो गई थी। राजनैतिक क्षेत्र में वे मेरे लिए सबसे ऊंचे आदर्श थे और अब तक हैं—यह नहीं कि हम लोगों में मत भेद नहीं था। १६०१ में भी सामाजिक विषयों पर जैसे विधवा विवाह पर हम लोगों में मतभेद था। पश्चिमी सभ्यता पर भी हम लोगों का मत एक नहीं था। अहिंसा के संबंध में मेरे जो अति तक पहुँचे हुए विचार हैं उनका तो वे स्पष्ट विरोध करते थे। पर ऐसे मत भेद की न वे परवाह करते थे न मैं करता था। हम लोगों को कोई बात भी अलग नहीं कर सकती थी। यह सोचना पाप होगा कि यदि वे आज (१६२१) जीते होते तो क्या होता। मैं जानता हूं कि

मैं उनके अधीन होकर काम करता। इसी लेख में उन्होंने लिखा है कि १८८८ में मैं दादाभाई के चरणों में गिरा परंतु वे मुझ से बहुत दूर मालूम होते थे। मैं उनके पुत्र के सदृश्य हो सकता था शिष्य नहीं। शिष्य पुत्र से बढ़ कर होता है। शिष्य होना दूसरा जन्म ग्रहण करना है, प्रसन्नतापूर्वक अपने को समर्पण करना है। १८९६ में मैं दक्षिणी अफ्रिका के संबंध में भारत के सब नेताओं से मिला था। जस्टिस रानडे को देखकर श्रद्धा और डर का भाव पैदा होता था। उनके सामने मुझे बोलने की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

बद्रुद्दीन तय्यबजी ने मुझसे पिता के तुल्य बरताव किया और कहा कि सब काम रानडे और फीरोज शाह से पूछ कर करो। फीरोजशाह मेरे मुरब्बी हो गए। जो वह चाहते थे वही करना पड़ता था। "आप को २६ सितंबर को व्याख्यान देना होगा और समय पर आना होगा" मैंने आज्ञा पालन की। उन्होंने कहा "२५ को संध्या समय मुझसे मिलना होगा।" मैं मिला। उन्होंने पूछा "आपने अपना व्याख्यान लिख डाला" मैंने कहा "जी नहीं"। वे बोले, "हे नवयुवक, इससे काम नहीं चलेगा, क्या आज रात को लिख सकते हो" अपने मुनशी की ओर देख कर "मुनशी आज तुम मिस्टर गांधी के पास जरूर जाओ और उनसे व्याख्यान लेलो। रात भर में वह छप जाय और मेरे पास एक प्रति भेज दी जाय।"

तब मुझ से कहा, "गांधी, लंबी स्पीच मत लिखना, आप

बंबई के श्रोतागण को नहीं जानते, वे लंबे व्याख्यान नहीं सुन सकते।" मैंने उनके आगे सिर झुकाया। बंबई के शेर ने मुझे आज्ञा पालन की शिक्षा दी।

गोखले का सब से बड़ा काम सर्वेंट आव इंडिया सोसायटी का स्थापित करना था। यह सोसायटी १२ जून १९०५ में पूना में स्थापित हुई थी। इसका उद्देश्य यह है कि शिक्षित लोग देश के काम के लिये तैयार किए जाँय। जो लोग इसमें शरीक होते हैं उनको त्याग का व्रत लेना पड़ता है, देश की अवस्था जानने के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करना पड़ता है, राजनैतिक और सामाजिक विषयों के ग्रंथों को नियमबद्ध पढ़ना पड़ता है, जहाँ कांग्रेस अथवा कनफरेंस इत्यादि होती है वहां जा कर पहले ही से काम करना पड़ता है, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि से पीड़ित लोगों की सेवा करनी पड़ती है। इसके सभासदों को सात व्रत लेने पड़ते हैं—

(१) मेरे विचारों में देश का स्थान पहले होगा और उसकी सेवा में मैं उत्तमोत्तम जो गुण मुझमें है लगाऊँगा।

(२) देश की सेवा करने में मैं अपना लाभ नहीं सोचूँगा।

(३) मैं भारतवासी मात्र को अपना भाई समझूँगा, और जाति और धर्म के भेद को ध्यान में न लाकर सबकी उन्नति के लिये काम करूँगा।

(४) मैं अपना और अपने कुटुंब का पालन पोषण उतने

धन से कर लूँगा जो 'सोसायटी' मुझे दे सकेगी। मैं अपने समय का एक अंश भी रोटी कमाने में नहीं लगाऊँगा।

(५) मैं अपना जीवन पवित्र रखूँगा।

(६) मैं व्यक्तिगत झगड़ों में नहीं पड़ूँगा।

(७) मैं सोसायटी के नियमों को सर्वदा दृष्टि में रखूँगा और पूर्ण रूप से इसके उद्देश्यों की वृद्धि करूँगा। कोई बात ऐसी नहीं करूँगा जो इसके उद्देश्यों से विपरीत हो।

१९१३ में गोखले पब्लिक सर्विस कमिशन में काम करते रहे। इस कमीशन के साथ वे भारत के कई स्थानों में और फिर इंग्लैंड गए। यह कमीशन इस उद्देश्य से बनाई गई थी कि भारतवासियों को उच्च पदाधिकारी बनाने के प्रस्ताव पर विचार करे। जो लोग इजहार देने जाते थे उनमें से कुछ तो भारतवासियों को सर्वथा या कई अंशों में अयोग्य समझते और कुछ लोग उनको पूर्णतयः योग्य समझते थे। गोखले ने एक बेर अपने मित्रों से कहा था कि इस कमीशन में बैठ कर दिन प्रति दिन यही सुनना कि भारतवासी अयोग्य हैं बड़ा दुःखदायी हो जाता है; परंतु ऐसे लोगों की गोखले तीक्ष्ण परीक्षा लेते। इस कमीशन के सभासदों में कई कानून जाननेवाले लोग थे पर उन्होंने कई बेर मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि गोखले के प्रश्न जो वे साक्षियों के प्रति करते थे बड़े मार्मिक होते थे। कमीशन का काम करते हुए वे कई बेर बीमार हुए, एक बेर विलायत में उनके बचने की आशा नहीं थी परंतु उनको तो

अपना शरीर स्वदेश ही में छोड़ना था। उनको खेद केवल इस बात का रह गया कि वे इस कमीशन का फल न देख सके।

कमीशन का काम वे कर ही रहे थे जब उनको के. सी. आई. ई. की उपाधि प्रदान हुई। उस समय वे विलायत में थे। उन्होंने धन्यवाद देते हुए तुरंत लिख भेजा कि उनको यह सम्मान स्वीकार नहीं है। उनको यह पसंद नहीं था कि वे 'सर' गोपाल कृष्णा गोखले कहलाते। यह बात भी प्रसिद्ध है कि एक बेर उनको सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल की मेंबरी प्रदान की गई थी परंतु उन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया।

गोखले का देहांत शुक्रवार १९ फरवरी १९१५ को शांतिपूर्वक हुआ। उनकी अवस्था ४९ वर्ष की थी। अंत समय तक उन्होंने काम किया। शुक्रवार के सवेरे ही से उनको ऐसा मालूम होने लगा था कि उनकी मृत्यु निकट आ गई है। उसी दिन उन्होंने अपने मित्रों, बहनों और लड़कियों से विदाई ली, अपने कागज़ पत्रों के संबंध में आवश्यक परामर्श किया। रात के नौ बजे अपने नौकरों से कहा—"जीवन के इस ओर का आनंद तो मैंने ले लिया अब मुझे उस ओर जाकर देखना है"। गोखले के जीवन पर रानडे का बड़ा प्रभाव पड़ा था। प्रत्येक विषय पर अध्ययन और मनन करके कुछ कहना, दूसरे पक्षवाले के तर्क को समझ कर उसको ठीक ठीक कहना और तब प्रेमपूर्वक उसका उत्तर देना, रात दिन देशहित के कामों में लगे रहना; ये गुण रानडे ही की शिक्षा और उदाहरण से उनमें

आए थे। १८९६ में गोखले ने बंबई ग्राज्युएट्स एसोसिएशन में शिक्षा प्रचार विषयक एक लेख पढ़ा था। उसके सभापति सर फीरोजशाह मेहता थे, रानडे भी वहाँ उपस्थित थे। उन दिनों अमीर काबुल के पुत्र विलायत भ्रमण के लिए गए थे। जिनके लिये सरकार ने लाखों रुपया व्यय किया था। गोखले ने अपने व्याख्यान में जोश से कहा कि सरकार को अमीर काबुल के प्रतिनिधि के भ्रमण पर लाखों रुपया नष्ट करने को मिल जाता है पर शिक्षा प्रचार के लिये धनाभाव का बहाना ढूँढ़ना पड़ता है। रानडे ने तुरंत अपने व्याख्यान में अन्य बातों में गोखले से अपना सहमत होना प्रगट करने के उपरांत उनको सलाह दी कि अमीर काबुल संबंधी अंश को लेख के छपने पर निकाल दिया जाय। रानडे का मत यह था कि अपने पक्ष में कठोर युक्ति का अस्त्र होना चाहिए, कड़वी और दिल दुखानेवाली बातों के कहने से कोई लाभ नहीं।

रानडे और गोखले में गुरु शिष्य का संबंध था। गोखले को उन पर बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने कभी उनकी आज्ञा का उलंघन नहीं किया। उनकी मृत्यु के उपरांत भी बात बात पर उनको रानडे की कथा याद आ जाती। १९०५ की कांग्रेस के समय सोशल कांफरेंस के प्रधान मंत्री के ठहराने के प्रबंध की चिंता में चरित्र लेखक गोखले से मिल कर उनसे यह पूछने गया कि क्या जिस स्थान में आप ठहरे हैं गुंजाइश निकाल सकती है। सोच विचार कर उन्होंने कहा कि ऐसा करना कठिन है।

अपने एक साथी की ओर देख कर मराठी में उन्होंने कहा—"महादेव (रानडे) की बात दूसरी थी, वे थोड़ी जगह में भी गुजारा कर लेते थे इत्यादि।"

गोखले से अधिक रानडे की जीवनी लिखने की योग्यता किसी दूसरे में नहीं थी। वे उनके गृहस्थ जीवन और सांसारिक जीवन से भली भांति परिचित थे। बहुत दिनों तक उनकी इच्छा थी कि रानडे का चरित्र लिखें परंतु अन्य कार्यों की भरमार ने उन्हें समय नहीं दिया।

गोखले को जब चिंता घेर लेती और उनका काम में मन न लगता तब वे रमाबाई के पास जाकर रानडे की चर्चा छेड़ देते, दोनों की आँखों में आँसू आ जाते और इस तरह दिल बहल जाता।

रानडे और गोखले, दोनों में से इतिहास की दृष्टि में किसने देश की सेवा अधिक की, यह प्रश्न प्रायः उठा करता है। लोग इसका मन माना उत्तर भी दे देते हैं। जिस प्रकार पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़े हुए दो आदमी जिनमें एक बंला हो और दूसरा नाटा, नीचे से देखनेवाले को समान कद के मालूम होते हैं उसी प्रकार हमारी दृष्टि में दोनों का दर्जा बराबर है। दोनों का चरित्र उत्कृष्ट था, दोनों के आदर्श ऊँचे थे। कम सोना, जितनी देर जागना काम करना, पुस्तकों से अनुराग, दूसरे पक्षवालों से प्रेमपूर्वक मिल कर उनको अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करना, शिक्षा प्रचार की धुन, सरकार और जनता में समान

आदर पाना, तिस पर भी स्वतंत्रतापूर्वक दोनों के गुण दोष बतलाना—इन बातों में गुरु और शिष्य बराबर थे। रानडे सरकारी नौकर थे, उनके समय का बहुत सा हिस्सा कचहरी जाने अथवा फैसला लिखने में लग जाता था। कौंसिल के वे सभासद् भी हुए तो सरकार की ओर से। सर्वसाधारण की ओर से उनको चुने जाने का अवसर ही नहीं मिला।

गोखले ने निर्धनता का व्रत लिया था। दो कन्याओं के जिनमें से एक ने बी. ए. तक शिक्षा पाई है, निर्वाह की फिक्र तो थी ही, भाई की मृत्यु के उपरांत उन पर भतीजों भतीजियों और भांजों के पालन, पोषण और शिक्षा का भार भी आ पड़ा था।

रानडे को धन की कमी नहीं थी। पुस्तकें और समाचार पत्र पढ़ कर सुनानेवाले और उनके पत्रों का उत्तर देनेवाले वेतनभागी थे। गोखले अपने पत्रों का उत्तर शीघ्रता के साथ ऐसे समय में लिखने बैठते जब डाकगाड़ी छूटने में थोड़ी देर रह जाती।

दोनों के स्वभाव और गुणों में थोड़ा सा अंतर अवश्य था। गोखले अपने चित्त को एकाग्र तभी कर सकते थे जब सब दर्वाजे बंद हों, स्थान एकांत हो, कहीं से आवाज न आती हो और कोई उस समय मिलने न आवे। इससे वे रात को काम करना पसंद करते थे और यही उनके रोगग्रस्त होने का कारण हुआ। रानडे के काम में कोई विघ्न डाल ही नहीं सकता था।

लिखने, पढ़ने, सोचने के समय कोई आ जाय, बच्चे भी शोर मचाएँ, उनका मस्तिष्क निर्विघ्न काम करता था। गोखले कभी कभी उन लोगों से जो काम के समय आ जाते रूखा बर्ताव भी करते थे परंतु पीछे पछताते थे और नौकरों तक से क्षमा माँगने लगते थे।

यदि वाद विवाद में उन पर कोई व्यक्तिगत कटाक्ष कर बैठता उसको वे सहन नहीं कर सकते थे। देशसेवा करनेवाला इससे बच नहीं सकता। गोखले का जीवन रात दिन देश संबंधी कार्यों में व्यतीत होता। इसलिये दूसरों से मतभेद के अवसर भी बहुत आ जाते। जिनसे मतभेद हुआ करता है वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जो योग्यतापूर्वक तर्क करते हैं। ऐसे लोग गोखले का लोहा मान जाते थे। दूसरे प्रकार के लोग कड़ी और कड़वी बातें कहने और चरित्र पर कटाक्ष करने को युक्ति का स्थान देते हैं। ऐसे लोगों से गोखले बड़े दुःखी होते थे। रात दिन चिंता में पड़ जाते थे। उनके मित्र उनको बहुत समझाया करते थे कि छोटी छोटी बातों को ध्यान में नहीं लाना चाहिए, वे स्वयं भी अपनी त्रुटि को मानते थे पर यह उनका स्वभाव ही हो गया था। रानडे पर कटाक्षों का कुछ भी असर नहीं पड़ता था। कहा जाता है कि एक बेर जब रानडे विधवाविवाह पर आंदोलन कर रहे थे एक छोटे दर्जे का आदमी उनके घर पहुँचा और अपने को देशसुधारक का पक्षपाती प्रगट करके रानडे से कहने लगा कि आप अपनी

विधवा बहिन का विवाह मुझसे कर दीजिए। इसी प्रकार एक नाटक के अभिनय में रानडे के ढंग का एक सुधारक खड़ा किया गया। वह बहरा बनाया गया। एक विवाहिता स्त्री ने उससे आकर कहा "मेरा पति मुझसे मार पीट करता है, मैं उससे दुःखी हूँ।" इस पर बहरे सुधारक ने कहा "दूसरा विवाह कर ले।"

रानडे इस प्रकार के आक्षेपों को शांति से सहन कर लेते थे। इसकी बातचीत भी नहीं करते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि विरोधी अपने आप चुपचाप बैठ रहता था।

रानडे और गोखले दोनों अच्छे वक्ता थे परंतु गोखले अधिक प्रभावशाली थे। रानडे की वक्तृता गंभीर होती थी। वे दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक विषय के तत्व का अनुसंधान करते थे। उनके विचार तत्ववेत्ता और दिव्यद्रष्टा के होते थे। गोखले की भाषा सरल और सुंदर होती थी। उनकी वाणी मधुर थी। रानडे के व्याख्यान से केवल विद्वान और पंडित प्रसन्न होते थे, गोखले सब को प्रिय लगते थे। रानडे ने परिश्रम से वक्तृता देने की शक्ति प्राप्त की थी, गोखले में यह शक्ति परमेश्वरी देन थी। गोखले की सूरत शक्ल भी आकर्षित करती थी, रानडे देखने में भद्दे से मालूम होते थे।

गोखले ने अपना जीवन राजनीति के क्षेत्र को पवित्र करने में बिताया। यही उनका कार्यक्षेत्र था। रानडे राजनीति, शिक्षा, धर्म, समाज-सुधार, औद्योगिक उन्नति इत्यादि सब

विषयों में अनुराग रखते थे और इन सब क्षेत्रों में काम करते थे और सब में उनका कार्य उच्च श्रेणी का समझा जाता है।

---

(१४) रानडे संबंधी कहानियाँ।

(१) बुढ़िया का बोझ।

एक दिन रानडे रास्ते में जा रहे थे। एक गरीब बुढ़िया लकड़ी का बोझ जमीन पर रक्खे खड़ी थी। बोझ इतना भारी था कि उस बेचारी के उठाए न उठता था। उनको सीधा सादा देख कर उसने यह तो जाना नहीं कि ये हाईकोर्ट के जज हैं, समझी कोई मामूली आदमी होगा। कहने लगी "जरा मेरे बोझ को हाथ लगा दो"। उन्होंने तुरंत ही बोझ उठा कर उस के सिर पर रख दिया।

इस प्रकार की घटनाएँ उनके जीवन में अनेक बेर हुई थीं।

(२) पगड़ी गिर गई।

पूना में एक दिन बरसात में रानडे टहलने गए। रास्ते में एक मोड़ थी। मोड़ की दूसरी तरफ से एक आदमी तेजी से दौड़ा आता था। रानडे को उसका इतनी जोर से धक्का लगा कि उनकी पगड़ी कीचड़ में गिर गई। उन्होंने तुरंत जमीन से पगड़ी उठा ली और उसको साफ करके सिर पर रख लिया। उस आदमी ने बहुत क्षमा-प्रार्थना की। रानडे ने उत्तर दिया

कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह तो केवल सड़क की एक घटना है।

(३) जज साहब का मुर्दा।

राव बहादुर मदन श्रीकृष्ण पूना में खफीफा के जज थे। उनकी स्त्री का देहाँत हो गया। वे जाति के खत्री थे। इस जाति के लोग पूना में बहुत कम हैं। इस लिये उनकी कचहरी से जो लोग मुर्दनी में आए थे, उनमें से ऊँची जाति के लोग मुर्दे को उठा कर ले गए। १५ ही दिन के बाद जज साहब का भी शरीर छूट गया। अब उनका मुर्दा उठाने के लिये कोई आदमी नहीं मिलता था। उस समय पूना में उनका एक लड़का और एक भाई था। मुर्दा उठाने के लिये ये दोनों काफी नहीं थे। ऊँची जाति के और लोगों ने इस काम को करना पसंद नहीं किया। रानडे उस समय दौरे पर रहते थे। संयोग से उस दिन वे पूना ही में थे। जब उनको यह समाचार मालूम हुआ वे तुरंत अपने मित्र राव बहादुर शंकर पांडुरंग को साथ लेकर मदन श्रीकृष्ण के घर पहुँचे और थोड़ी ही देर में ब्राह्मणों का प्रबंध करके मुर्दनी में शरीक हुए।

(४) बंगाली मर गया।

पूना के सायंस कालेज में कई बंगाली विद्यार्थी पढ़ते थे। इनमें से एक जो बड़ी दूर का रहनेवाला था, एक दिन अकस्मात् बीमार पड़ा और मर गया। दूसरे बंगाली लड़के बहुत

घबरा गए। पराए देश में अपनी रीति के अनुसार मृतक संस्कार कराना उनको बड़ा कठिन मालूम हुआ। उन्होंने बहुत घबरा कर रानडे को पत्र लिखा। रानडे तुरंत उनके घर पहुँचे और उन्होंने उनका सब प्रबंध कर दिया।

(५) पंजाबी को स्त्री-शोक।

एक नवयुवक पंजाबी को जो बंबई में रहता था, अपने देश में स्त्री के मरने का समाचार मिला। उसको उस समय बड़ा दुःख हुआ और इसी अवस्था में उसने रानडे को एक पत्र लिखा। कचहरी से लौटते हुए रानडे उसके घर पहुँचे और उसके पास देर तक बैठकर उन्होंने उसको तसल्ली दी।

(६) चोर पर दया।

रानडे के ब्राह्मण रसोइए को चोरी की बान पड़ गई थी। एक दिन आधी रात को उसने लोहे के बक्स की ताली लेकर बक्स खोला और उसमें से गहना इत्यादि निकाल ही रहा था कि वह पकड़ा गया। रानडे ने उसको उसके घर तक का किराया देकर अपने यहाँ से बिदा किया।

(७) दुष्ट की दुष्टता और अपना कर्तव्य-पालन।

सन् १८९९ ई० की गर्मी में रानडे ने लोनावला से एक मुकद्दमे का फैसला लिखकर एक लड़के को, जो उनके यहाँ रहता था, डाक में छोड़ने के लिये दिया। उस फैसले के साथ उनके साथी जज मि० जस्टिस पारसंस का भी फैसला था।

थोड़ी देर में उस लड़के ने आकर रानडे से कहा कि डाकखाने पहुँचने से पहले ही वह पैकट कहीं रास्ते में गिर गया। ये दोनों पैकट पूना के एक खून के मुकद्दमे के थे। मालूम होता है कि खूनियों के किसी सहायक या मित्र ने लड़के को लालच देकर वा बहका कर उससे फैसला ले लिया, क्योंकि इसके खो जाने की खबर आपसे आप पूना में पहले ही पहुँच गई। इसके अतिरिक्त जिस सड़क से वह रानडे के बँगले से डाकखाने की तरफ गया था, उधर रास्ता बहुत नहीं चलता था, सड़क भी छोटी थी। वक्त दिन का था। रानडे और मि० जस्टिस पारसंस को दूसरा फैसला लिखने का कष्ट उठाना पड़ा। रानडे के मित्रों ने लड़के को घर से निकाल देने की सलाह दी, परंतु उन्होंने सिवाय झिड़क देने के और उसका कुछ नहीं किया। अपने मित्रों को उन्होंने यह उत्तर दिया कि इस लड़के के बाप ने इसको मेरे सिपुर्द उस समय किया था कि जब वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा था और मैंने उस समय वचन भी दिया था कि मैं इसके संरक्षक का कार्य करूँगा। इसलिये इसको घर से निकाल कर मैं अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता। इस बालक को उन्होंने अपने घर पर अंत समय तक रखकर उसके पालन पोषण और शिक्षा का प्रबंध किया।

(८) "महादेव को पढ़ने दो।"

रानडे जिस चीज को पढ़ते थे, जोर से पढ़ते थे। यह उनकी आदत पड़ गई थी। एक दिन वे अपने कालेज के एक

खाली कमरे में नंगे सिर मेज पर टाँगे फैलाए पुस्तक बड़े ज़ोर से पढ़ रहे थे। उनके बगल के कमरे में एलिफिस्टन कालेज के सुप्रसिद्ध प्रिंसिपल सर एलेक्जंडर ग्रांट साहब पढ़ा रहे थे। उनको विघ्न पड़ा। इसलिये वे बाहर देखने आए कि किस तरफ से शोर हो रहा है। उनके पीछे एक लड़का भी तेजी से आया कि दौड़ कर शोर बंद करा दे। ज्योंही प्रिंसिपल साहब ने देखा कि रानडे पढ़ रहे हैं वे चुपचाप लौट गए और उस लड़के से बोले—"महादेव (रानडे) को पढ़ने दो। उसकी पढ़ाई में विघ्न न डालो।"

(९) "मोटी ताजी औरत आई है।"

जब रानडे दौरे की नौकरी पर थे प्रत्येक ताल्लुके में दो तीन दिन रहते थे। यदि वहाँ की कन्या पाठशाला के अधिकारी निरीक्षण के लिये निमंत्रण देने आते तो आप उन्हें अपनी धर्म-पत्नी के पास भेज देते। वे समय आदि निश्चय कर लेतीं। एक दिन रात को आपने श्रीमती से पूछा—"व्याख्यान की तयारी है क्या? मैंने भी कुछ सुनगुन सुनी थी, पर काम में फँसे रहने के कारण कुछ समझ न सका। रास्ते में कुछ लोग कहते जाते थे कि एक मोटी ताजी विद्वान् औरत आई है, कल उसका कन्यापाठशाला में व्याख्यान होगा। परंतु मैं काम में था, कुछ ख्याल नहीं किया। फिर भी अंदाज से समझ लिया कि यह सब तुम्हारे ही विषय में था।" ये सब बातें आपने ऐसी गंभी-रता से कहीं कि सुननेवाला उनको बिलकुल ठीक मान लेता।

रमाबाई ने कहा कि "इन सब में केवल मोटी ताजी वाली बात ही मेरे लिये ठीक है, बाकी सब कल्पना मात्र है।

(१०) "नरक को स्वर्ग बनाना।"

पूना में प्रार्थना समाज के मंदिर बनवाने के लिये कोई स्थान नहीं मिलता था। बहुत ढूँढने पर एक तंग गली में एक गंदी जगह मिली और रानडे ने वहीं मंदिर बनवाया। लोगों ने जगह के गंदे होने की शिकायत की। उन्होंने जवाब दिया— "हमें तो नरक को स्वर्ग बनाना है।"

(११) देश को लकवा मार गया।

रानडे के मित्र वामन आबाजी मोडक सी. आई. ई. को लकवा मार गया। वे उनको अपने घर ले आए। उस समय पूना से एक सज्जन रानडे से मिलने आए और उन्होंने पूछा कि मोडक महाशय को क्या बीमारी है? इन्होंने उत्तर दिया कि उनको वही बीमारी है जिससे समस्त भारत दुखी है।

(१२) "साहब को भी माला पहना दो।"

नासिक में एक कन्यापाठशाला थी। उसका उत्सव हुआ। थाना के जज मिस्टर कागलेन और उनकी स्त्री उस समय वहीं दौरे पर थे। उन्हीं के हाथ से इनाम बटवाया गया। रानडे उस समय नासिक में जज थे और श्रीयुत देशमुख जाइंट जज थे। श्रीमती देशमुख, मिसेज कागलेन और अन्य स्त्रियों को धन्यवाद देने के निमित्त भाषण करनेवाली थीं। रानडे ने लेख

लिख दिया था, परंतु समय पर श्रीमती देशमुख की हिम्मत नहीं पड़ी। श्रीमती रानडे ने इस कार्य को कर दिया। इस पर स्कूलों के डिपटी इंस्पेक्टर ने फूलों की बहुत सी मालाएँ श्रीमती रानडे के सामने ला रक्खीं। उन्होंने सब प्रतिष्ठित स्त्रियों को मालाएँ पहना दीं, पर कागलेन साहब को नहीं पहनाई, डिपटी साहब ने उनसे जाकर कहा कि साहब को भी माला पहना दीजिए। इस पर श्रीमती जी बहुत नाराज़ हो गईं। यह देख कर देशमुख जी हँसते हुए खड़े हो गए और उन्होंने कागलेन साहब को माला पहना दी। उसी दिन रात को सोते समय विनोद से रानडे ने कहा—"हो गई तुम लोगों की सभा? सब काम तो पुरुषों ने किया उसमें स्त्रियों का अहसान काहे का? तुमने केवल तीन ही स्त्रियों को मालाएँ पहनाईं। बेचारे कागलेन साहब ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?" रमाबाई ने उत्तर दिया—"यदि मैं हिंदू न होती तो मुझे भी उसमें कोई आपत्ति न थी। हिंदू होकर भी डिपटी साहब ने मुझे माला पहनाने को कहा, इस पर मुझे आश्चर्य हुआ और क्रोध भी आया।" रानडे ने कहा—"डिपटी साहब पर तुम्हारी अप्रसन्नता व्यर्थ है। उन्होंने किसी दूसरे विचार से तुम्हें माला पहनाने को नहीं कहा था।"

(१३) "शहर की रहनेवाली।"

जब रानडे दौरे पर रहते तब सायंकाल गाँव के लोग उनसे मिलने आते। उनसे वे व्यापार, त्योहार, पाठशाला, कथा,

पुराण इत्यादि विषयों पर बात चीत करते। आपने एक दिन रमाबाई से पूछा—"कहो, यहाँ की स्त्रियों से कुछ बात चीत हुई।" रमाबाई ने उत्तर दिया—"योंही इधर उधर की कुछ बातें हुईं।" इस पर रानडे ने कहा—"हाँ, ठीक ही है. तुम पढ़ी लिखी शहर की रहनेवाली हो, वे बेचारी गँवार। वे तो योंही तुम्हें देखकर दब जाती होंगी।" इस प्रकार हास्य विनोद द्वारा लज्जित कर रानडे रमाबाई को गाँव की स्त्रियों की सामाजिक अवस्था जानने पर बाध्य करते थे।

(१४) "तुमने अंग्रेजी पढ़ी है।"

रानडे सवेरे ही उठ कर भजन करते थे। वे कभी कभी गद्गद होकर भक्ति में निमग्न हो जाते। रमाबाई इस अवस्था को देख कर अपने मन में सोचतीं कि इस विषय पर कुछ प्रश्न करने चाहिएँ। परंतु ज्योंही उनकी आँख से आँख मिलती वे सब प्रश्न भूल जातीं। ऐसे अवसर पर एक दिन आपने रमाबाई से कहा—"क्या कुछ टीका करने का विचार है? हम लोग सीधे सादे आदमी किसी प्रकार भजन कर लेते हैं। तुमने अँग्रेजी पढ़ी है, तुम्हें ये सब थोड़े ही अच्छा लगेगा।"

(१५) "रसोइए की अपेक्षा निगरानी रखनेवाले का अधिक दोष है।"

एक दिन रसोइए ने चावल कुछ कच्चे ही पकाए। रमाबाई उस पर बड़ी बिगड़ीं। भोजन के उपरांत रानडे ने हँसते हुए

कहा—"ओह ! जरा सी बात के लिये इतना बिगड़ने की क्या जरूरत थी। धान पचानेवाले लोगों को कच्चा भात क्या हानि पहुँचा सकता है ? हम लोग युद्ध करनेवाली जाति के आदमी ठहरे। जिस समय तुम बिगड़ रही थीं उस समय मैं इसलिये चुप रहा कि कहीं तुम्हारे मालिकपन में फर्क न आ जाय। परंतु भात के कच्चे रहने में रसोइए की अपेक्षा उसपर निगरानी रखनेवाले का अधिक दोष है। नौकरों का काम तो ऐसा ही होगा। उनपर निगरानी रखनेवाले को ध्यान रखना चाहिए।" रमाबाई ने कहा—"यदि थाली में एक ग्रास अधिक आ जाय तो उसे छोड़ देनेवाले लोग क्या युद्ध करेंगे ? और अब तो कलम में ही युद्ध रह गया है। हाथ में रखने के लिये केवल छड़ियाँ मिलती हैं, वे भी सरकार कुछ दिनों में बंद कर देगी, छुट्टी हुई। यदि सचमुच कहीं युद्ध का काम आ पड़े तो लोगों को कैसी कठिनता हो ? छाती में दर्द होने के कारण टरपेंटाइन लगाने से जिनके छाले पड़ जाते हैं, वे लड़ाई के घाव क्योंकर सहेंगे ?" रानडे ने कहा—"यहाँ तो जगह जगह पर घावों के निशान हैं। यह कंधे के घाव देखो, छाती पर तो इतने जख्म हैं कि उन सभों को मिलाकर हिंदुस्तान का एक नक्शा सा बन गया है। अच्छी तरह देखो।" यह कह कर उन्होंने अपने कपड़े उतार कर छाती दिखाई। रमाबाई ने हँसते हँसते पास जाकर जो देखा तो सचमुच छाती पर भारत का नक्शा सा बना हुआ था।

(१६) "मैं तुम्हारी गाड़ी में चलूंगा" ।

महाशय कुंटे रानडे के सहपाठी और मित्र थे। १८८५ में जब रानडे पूना में जज थे तब कुंटे भी पूना ही में थे। उन दिनों म्युनिसिपैलिटियों में यह सुधार किया गया था कि सरकार के चुने हुए मेंबरों के बदले जनता के प्रतिनिधि भी चुने जाँय। रानडे इस सुधार के बड़े समर्थक थे परंतु कुंटे इसके विरुद्ध थे। इसलिये रानडे ने कुंटे का घोर विरोध किया। एक ओर रानडे चेष्टा करते कि पूनावासियों में अपने नगर के शासन करने की इच्छा हो और सुशिक्षित देशहितैषी सज्जन म्युनिसिपल बोर्ड में चुने जाँय, दूसरी ओर कुंटे ने इसके विरुद्ध महल्ले महल्ले सभाएँ करनी शुरू कीं। कुंटे बड़े वक्ता थे और इन सभाओं में नवीन सुधार का विरोध करने के साथ साथ उन्होंने रानडे पर गालियों की बौछार भी शुरू कर दी। नगर में बड़ा आंदोलन मच गया। सरकारी अफसरों ने समझ लिया कि जन-समूह नवीन सुधार के विरुद्ध है। रानडे ने सोचा कि अब कुंटे को समझाना चाहिए। एक दिन कुंटे की सभा 'रास्ते पेठ' नाम स्थान में किसी सज्जन के घर पर की गई। इस घर में एक बड़ा कमरा था जिसमें एक ओर अंदर जाने का द्वार था, दूसरी ओर कुंटे महाशय खड़े होकर व्याख्यान देने लगे। सब लोग जमीन पर बैठ कर उनका व्याख्यान सुन रहे थे। इतने में सामने से रानडे सभा में आते हुए दिखलाई दिए और द्वार के पास आकर बैठ गए। कुंटे उनको

देखकर कुछ घबरा से गए। उन्होंने तुरंत अपनी पीठ रानडे की तरफ कर दी और दीवार की ओर मुँह करके वे व्याख्यान देने लगे। कुछ ही शब्द और कहे होंगे कि उनकी बोली बंद हो गई। वे झट बैठ गए। तब रानडे उनके पास जा बैठे। जब सभा विसर्जित हुई, रानडे ने कुंटे से प्रेमपूर्वक कहा—"चलो, गाड़ी में हवा खा आवें।" कुंटे ने रुखाई से कहा—"मैं तुम्हारी गाड़ी में नहीं चलूँगा।" यह कहकर कुंटे अपनी गाड़ी में जाकर बैठ गए। रानडे शांतिपूर्वक उनके पीछे हो लिए और बोले—"अच्छा, तुम हमारी गाड़ी में न चलोगे तो मैं तुम्हारे साथ तुम्हारी गाड़ी में चलूँगा।" यह कहते हुए उन्होंने कुंटे की गाड़ी में पैर बढ़ाया। विचारा कुंटे क्या करता। रानडे को अपने साथ बैठाना ही पड़ा। दोनों बहुत दूर तक हवा खाने गए। घर लौटने से पहले दोनों का मतभेद दूर हो गया और फिर किसी ने भी नवीन सुधार का विरोध नहीं किया।

(१७) सिविलियन का दुर्व्यवहार

१८९४ की कांग्रेस से जब रानडे मद्रास से बंबई आ रहे थे, उनके पास पहले दरजे का टिकट था परंतु उनके अनेक मित्र दूसरे दर्जे में थे। इसलिये वे अपना असबाब पहले दर्जे में रखकर दूसरे दर्जे में बैठ गए। सोलापुर स्टेशन पर एक युवा सिविलियन साहेब ने उनका असबाब नीचे फेंक कर अपना बिस्तर जमा लिया। जब रानडे को इसकी सूचना मिली वे चुपचाप अपने कमरे में लौट गए और दूसरी बैठक पर जिस

पर डाक्टर भांडारकर भी थे, बैठ गए। डाकृर भांडारकर भी अपने मित्रों के साथ दूसरे दर्जे में बैठे थे। जब सोने का समय आया, भांडारकर महाशय ने अपना स्थान रानडे को दे दिया और हलके होने के कारण वे आप ऊपर की गद्दी पर जा सोए। पूना पहुँच कर साहेब बहादुर को जो वहाँ के असिस्टेंट जज थे, किसी तरह पता लग गया कि जिन हिंदुस्तानी सज्जन का असबाब हमने फेंक दिया था वे हाईकोर्ट के जज मिस्टर रानडे हैं। वह तुरंत गाड़ी की ओर लौटा, मालूम होता था रानडे से क्षमा माँगने के लिये आ रहा है। रानडे उसको अपनी तरफ आते देख मुँह फेर कर दूसरी तरफ चल दिए। उसी गाड़ी में मिस्टर गोखले भी थे। गोखले ने दूसरे दिन उनसे पूछा कि इस मामले में क्या कोई कार्रवाई की जायगी ?" उन्हों कहा—"इन बातों में मुझे विश्वास नहीं है, इसमें एक तरफ एक कहेगा, दूसरी तरफ दूसरा। यह मामला किसी प्रकार लड़ने लायक नहीं है।" फिर उन्होंने गोखले से पूछा—"क्या हम लोगों का मन इन बातों पर शुद्ध है ? हमलोग अछूत जातियों के साथ, जो हमारे ही देशवासी हैं, आज कल भी कैसा वर्त्ताव करते हैं। ऐसे समय में जब हमको मिलजुल कर अपने देश के लिये काम करना चाहिए, हम लोग अपने पुराने अभ्युदय के अधिकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं और अबतक उनको पादाक्रांत करते ही जाते हैं। ऐसी अवस्था में शुद्ध मन से हम लोग अपने वर्तमान शासक लोगों को जो हम से घृणा करते

हैं, कैसे दोष दे सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी घटनाएँ दुःखदायी हैं और अपने आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाती हैं। इनसे अपने विश्वास की बड़ी परीक्षा होती है। परंतु ऐसी खेदजनक घटनाओं से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि जो कार्य हमारे सामने हैं उनको हम दृढ़तापूर्वक मन लगा कर करते जाँय।"

(१८) 'बुखार है या नहीं ?'

रानडे के चाचा विट्ठल काका बुढ़ापे में उनके साथ ही रहते थे। उनकी अवस्था सत्तर बहत्तर वर्ष की थी परंतु वे बड़े हृष्ट पुष्ट थे। एक बेर वे रानडे और उनके परिवार के साथ महाबलेश्वर गए। उन दिनों प्लेग का जमाना था। वहाँ पहुँच कर डाक्टर ने सब लोगों की जाँच की। डाक्टर ने जब विट्ठल काका को थर्मामेटर लगाना चाहा, उन्होंने कहा—"थर्मामेटर से तुम्हें क्या मालूम होगा ? तुम कह सकते हो कि मेरी उम्र कितनी है ? तुम यही देखना चाहते हो न कि हमें बुखार है या नहीं ? तो लो, देखो।" यह कह कर उन्होंने डाक्टर की कलाई पकड़ ली। डाक्टर ने कहा "छोड़ दो, तुमको बुखार नहीं है, तुम हमसे भी ज्यादा मजबूत हो।"

(१९) रानडे के चाचा

विट्ठल काका एक दफ्तर में १५) या २०) के मोहर्रिर थे। उनके बड़े साहब ने हुक्म दिया कि जिन लोगों को नौकरी

करते २५ वर्ष हो गए वे अब पेंशन ले लें। विट्ठल काका को जब यह हुक्म दिखलाया गया उन्होंने इसका कारण पूछा। दफ्तरवालों ने कहा—"२५ वर्ष काम करने के अनंतर लोग निर्बल, निरुत्साही हो जाते हैं और काम करने के योग्य नहीं रहते।" दूसरे ही दिन विट्ठल काका साहब के बँगले पर पहुँचे। साहब उस समय टहलने जा रहे थे। साहेब के पूछने पर उन्होंने कहा—"मैं विट्ठल बाबा रानडे अमुक दफ्तर का क्लर्क हूँ।" साहब ने कहा—"फिर किसी वक्त आना, इस समय मैं बाहर जाता हूँ।" उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे बँगले पर आने की जरूरत नहीं, सिर्फ दो मिनिट ठहर जाइए।" यह कहकर आप लाँग कस और अस्तीन चढ़ा, चार बैलों के खींचने लायक सड़क कूटने के पत्थर का बेलन साहब के सामने खींच लाए। साहब ने आश्चर्य से पूछा—"यह क्या करते हो?" विट्ठल काका ने कहा—"आपने दफ्तर में हुक्म दिया है कि जिनकी नौकरी पचीस वर्ष की हो गई वे सब पेंशन पर जाँय। मैंने सोचा कि दर्ख्वास्तें देने से मुझ गरीब की कोई सुनेगा नहीं, इस लिये यह प्रत्यक्ष दर्ख्वास्त देने मैं आया हूँ। यदि अब भी संदेह हो कि मैं काम नहीं कर सकता तो आप खुद बेलन घसीट कर देख लें।" दूसरे दिन उनका नाम पेंशन की सूची से काट दिया गया।

(२०) आम तोड़ा जेवर खोया।

जब रानडे दौरे पर रहते थे एक दिन सातारा जिले के

एक स्थान में वे टहलने निकले। रमाबाई से कह गए कि गाड़ी कसवा के तुम पीछे आना। रमाबाई ने सड़क के किनारे के पेड़ों पर आम लगे हुए देख कर चाबुक से तोड़ना शुरू किया। इसी में उनके हाथ का गहना गिर गया। उन्होंने बहुत तलाश किया पर पता न लगा। गाड़ीवान और चपरासी भी उसको ढूँढ़ने लगे। इसमें रमाबाई को बड़ी देर लग गई। जब वे गाड़ी कसवा कर गईं तो रानडे दो मील जा चुके थे। उनसे मिल कर इन्होंने सब हाल कहा। इस पर आप गंभीरतापूर्वक बोले—"बिना पूछे दूसरे के आम तोड़े, उसी की यह सजा मिली।" रात को भोजन के समय आपने रसोइए से कहा—"सवेरेवाले ७५) के आम की चटनी तो लाओ।" रमाबाई लिखती हैं कि इन बातों से मुझको बड़ी नसीहत मिली। रानडे ने यह भी कहा कि "गहने के लिये इतना दुःखी होने की आवश्यकता नहीं। आज दोपहर को हमारी भी एक जस्ते की डिबिया खो गई। एक चीज तुम्हारी खोई, एक हमारी। दोनों बराबर हो गए। हमारी डिबिया थोड़े दाम की थी, पर उसके बिना बड़ा हर्ज है। चीज खोने से अपनी असावधानता ही प्रतीत होती है। इस लिये सावधान रहना चाहिए। उसके लिये दिन भर दुखी रहने की आवश्यकता नहीं। सदा हँसी खुशी से रहना चाहिए।"

(२१) रानी का राज्य।

काम की अधिकता से रानडे के भोजन और विश्राम में

कभी कभी देर हो जाती। महाबलेश्वर में एक दिन जब वे पढ़ लिख रहे थे रमाबाई ने उनसे इस बात की शिकायत की। आपने कहा—'चलो, उठो हमें तो इस बात का ध्यान ही नहीं रहता कि भोजन में अधिक विलंब होने के कारण कोमल स्त्रियों को कष्ट होता है'। ऐसी अवस्था में कभी कभी आप कहते "हमारे आसरे तुम लोग भूखी क्यों रहती हो? यदि किसी दिन हमें देर हो जाय तो तुम खा लिया करो। यदि इतनी स्वतंत्रता भी न हुई तो रानी का राज्य किस काम का"।

(२२) थकावट में देशसेवा और बीमारी में कर्त्तव्य-पालन।

लोनावला में एक बार पानी बरसने पर भी रानडे खुली हवा में ही बैठे रह गए। इससे गुरदे का रोग हो गया। बंबई में चिकित्सा की और कुछ फायदा हुआ। एतवार के दिन सबेरे ही से आपने कचहरी का काम करना शुरू कर दिया। भोजन करके वे फिर उसी काम को करने बैठे और उन्होंने रमाबाई से कह दिया कि आज किसी से भेंट न करेंगे। तीसरे पहर रमाबाई ने चाय के लिये पूछा तो कहा अभी नहीं, मैं आप ही माँग लूँगा। थोड़ी देर बाद उन्होंने आप ही चाय माँगी और मुँह हाथ धोकर टहलने जाने की तय्यारी की। इतने में प्रार्थना समाज के चपरासी ने आकर कहा 'सेक्रेटरी साहब ने कहा है कि आज आप ही उपासना करावें'। रमाबाई को

क्रोध आया, उन्होंने कहा—"सेक्रेटरी साहब ने कहा है या आज्ञा दी है, पत्र तक न लिखा और सँदेसा भी भेजा तो पाँच बजे"। इस पर रानडे ने कहा इसमें सिपाही का क्या दोष है। इसका काम सँदेशा पहुँचाना है। उन्होंने सिपाही से कहा चलो हम आते हैं और रमाबाई से प्रार्थना संगीत की पुस्तक माँगी। रमाबाई के पूछने पर उन्होंने कहा—"जिस मुकदमें का फैसला मैं आज लिख रहा हूँ वह बड़े महत्व का है। हम जजों में पाँच छः दिन तक विचार होता रहा तौ भी सब की राय नहीं मिली। कल उसका फैसला सुनाना होगा। और मेरे साथी जज ने कल संध्या को मुझे पत्र भेजा है कि मैं ही फैसला लिखूँ। इसी लिये सवेरे और संध्या को बहुत देर तक बैठना पड़ा। मुकदमा खून का है जिसमें धारवाड़ के ६ ब्राह्मण अभियुक्त हैं"। प्रार्थना-समाज में पहुँच कर आपने बड़ी ही प्रेमोत्तेजक और भक्तिपूर्ण उपासना कराई। वहाँ से लौटते हुए गाड़ी ही में तबीयत खराब हो गई। रात को बुखार आगया और नींद बिलकुल नहीं आई। दूसरे दिन फैसला लिखते हुए कुछ शौच की आवश्यकता प्रतीत हुई। पर उन्होंने कहा अब काम खतम करके उठेंगे। इस पर रमाबाई ने कहा—"विश्राम तो आप लेते ही नहीं काम पर काम करते चले जाते हैं। मन तो वश में हो जाता है परंतु उसके कारण शरीर को कष्ट भोगना पड़ता है"। आपने कहा—'यदि तुम्हारे थोड़े से श्रम से किसी के प्राण बच सकें तो तुम इतना कष्ट सहने के लिये

तैयार होगी या नहीं'। रमाबाई ने कहा—"मैं ही क्या, सब तय्यार होंगे" रानडे ने कहा—"बीमार होने की किसी को इच्छा नहीं होती, इस मुकदमें में मेरे साथी जज की फाँसी की राय थी। मेरा मत इसके विरुद्ध था इसलिये इसका फैसला लिखने में अधिक समय और श्रम लगा। यदि मैं बीच ही में उठ जाता तो मन के विचार तितर बितर हो जाते और उन्हें फिर एकत्र करने में कठिनता होती"। दूसरे दिन कचहरी से आकर उन्होंने रमाबाई से कहा—"आज दो आदमियों की जान बची। उनको फाँसी की आज्ञा हुई थी पर अंत में काले-पानी की सजा दी गई।"

(२३) नौकरों से प्रीति।

१८९७ में जब बंबई में प्लेग फैला हुआ था रानडे के कई नौकरों को प्लेग हो गया। आपने उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबंध कर दिया। वे उनका प्रतिदिन हाल पूछते, उनकी खराब अवस्था का हाल सुन कर रात को भोजन न करते। रमाबाई घबरातीं कि कहीं वे अस्पताल उनको देखने न पहुँच जाँय क्योंकि वे नहीं चाहती थीं कि रानडे प्लेग के अस्पताल में जाँय। इसके साथ ही वे यह भी नहीं चाहती थीं कि उनसे यथार्थ हाल छिपावें जिसमें पीछे इसके कारण अप्रसन्नता हो। इनमें से एक उनकी सौतेली माँ के गाँव का लिखा पढ़ा आदमी था जो रानडे को पुस्तकें और समाचारपत्र पढ़कर सुनाया करता था। वह अँग्रेजी का काम अच्छा कर लेता था और

रानडे को भक्ति की दृष्टि से देखता था। वह पाँच घंटा लगातार काम कर सकता था। उसका नाम काशीनाथ था। रमाबाई उसको अस्पताल में देखने गईं और उससे कहा कि रानडे भी तुमको देखने आवेंगे। यह सुन कर वह डाकूर पर बिगड़ कर अँग्रेजी में कहने लगा—"मेरे मालिक को देखो, वे मुझ पर कितनी दया करते हैं। इस प्लेग के अस्पताल में उन्होंने अपनी स्त्री को भेजा है और वे मुझे देखने स्वयं आएँगे। वे कल ही आते परंतु उनको काम से छुट्टी नहीं मिलती; तुम जानते हो वे जब तक खूब सो नहीं जाते किसी न किसी काम में लगे रहते हैं। मैं उनका रीडर हूँ। मैं घंटों उनको पढ़ कर सुनाता हूँ। मैं बेकार नहीं बैठ सकता परंतु तुमने मुझे कैदी बना लिया है। क्या तुमको नहीं मालूम मैं कौन हूँ? मैं जस्टिस रानडे का रीडर हूँ। बिना मेरे उनका काम नहीं चल सकता। मैं उनका प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ। क्या तुम नहीं जानते मैं किसका आदमी हूँ? क्या वे पसंद करेंगे कि मैं बेकाम बैठा रहूँ। मैं उठता हूँ और काम में लग जाता हूँ, अब तुम्हारी किसी की नहीं सुनूँगा" इत्यादि कहता हुआ वह पागल की तरह सनकने लगा। डाकूर के संकेत करने पर रमाबाई वहाँ से चल दीं। उसके अनंतर वे दूसरे नौकरों को देख कर घर गईं। रानडे उस समय भोजन कर रहे थे। उनका हाल सुनकर उन्होंने खाने से हाथ खींच लिया और आँख में आँसू भर कर वे बोले—"यदि हम लोग पंद्रह दिन पहले ही बँगला छोड़ देते

तो यह अवसर न आता। यह लड़का बड़ा होनहार और बड़े काम का है। फिर चलते वक्त चोबदार से कहा—"रास्ते में काशीनाथ को देखते हुए चलना होगा"। उसने कहा 'तब कोर्ट पहुँचने में देर होगी'। आपने कहा—"अच्छा संध्या को लौटते समय सही, भूलना मत"। परंतु हाईकोर्ट में ही पाँच नौकरों में से तीन के मरने का समाचार पहुँचा जिनमें से एक काशी-नाथ था। डाक्टर ने पुछवाया कि उनकी अंतिम क्रिया अस्पताल के खर्च से होगी अथवा उनके खर्च से। रानडे ने तुरंत दो आदमी अस्पताल भेजे और एक अपने घर से रुपया लाने के लिये। काशीनाथ की अंत्येष्टि क्रिया का उन्होंने प्रबंध स्वयं किया और दूसरे नौकरों को उनकी बिरादरीवालों से करा दिया।

(२४) जीभ की परीक्षा।

एक बार पूना से रानडे के एक मित्र ने अपने बाग के कुछ आम भेजे। रमाबाई ने उनमें से एक चीर कर उनकी थाली में रखा। उन्होंने एक फाँक खाकर आम की तारीफ की और कहा—"तुम भी खाओ और सब लोगों को दो"। रमाबाई ने कहा—"आज कल तो आपका शरीर भी अच्छा है परंतु आपने मित्र का स्नेहपूर्वक भेजा हुआ एक आम भी न खाया। आम भी अच्छा है"। रानडे ने उत्तर दिया—"आम अच्छा था इसी-लिये तो मैंने छोड़ दिया। तुम भी खाओ और लड़कों को भी दो। मैं और भी दो एक फाँक खा लेता परंतु आज मैंने जीभ की परीक्षा ली है। बचपन में जब हम लोग बंबई में पढ़ते थे

तब हमारे बगलवाले कमरे में हमारे एक मित्र और उनकी माता रहती थीं। इनका परिवार किसी समय में बड़ा संपन्न था परंतु उस समय मेरे मित्र को २०) या २५) छात्रवृत्ति मिलती थी उसीसे दोनों निर्वाह करते थे। कभी कभी जब लड़का तरकारी न लाता तब माँ कहती—"मैं इस जीभ को कितना समझाती हूँ कि सात आठ तरकारियों, चटनियों, घी, खीर और मठे के दिन अब गए। परंतु तो भी बिना चार छः चीजें किए यह जीभ मानती ही नहीं। इस लड़के के लाए तरकारी भी नही लाई जाती। इसका काम तो बिना तरकारी चल जाता है परंतु मेरा नहीं चलता"। तात्पर्य यह कि यदि जीभ को अच्छी अच्छी चीजों की आदत लगा दी जाय और दिन अनुकूल न हों तो बड़ी कठिनता होती है। ज्यों ज्यों मनुष्य बड़ा और समझदार होता जाय त्यों त्यों उसे मन में से पशुवृत्ति कम करने और दैवी गुण बढ़ाने की आदत डालनी चाहिए। अच्छी बातों के साधन में बहुत कष्ट होता है उसे सहन करने के लिये यम-नियमों का थोड़ा बहुत अवलंबन करना चाहिए। लड़कियों को उदाहरण दिखलाने के लिये स्त्रियाँ चातुर्मास का नियम करती हैं परंतु ऐसे नियमों के लिये निश्चित दिन और समय की आवश्यकता नहीं। ज्यों ही ऐसा विचार मन में आवे त्यों ही बिना मुँह से कहे उसका साधन करना चाहिए। जिस काम को रोज थोड़ा थोड़ा करने का निश्चय विचार किया जाय वह जल्दी साध्य होता है। दैवी गुण बढ़ाना और मन को

उन्नत करना सब के लिये कल्याणप्रद है। ऐसी बातें दूसरों को दिखलाने या कहने के लिये नहीं हैं। रात को सोते समय अपने मन में इस बात का विचार करना चाहिए कि आज हमने कौन कौन से अच्छे और बुरे काम किए हैं। अच्छे काम को बढ़ाने की ओर मन को प्रवृत्ति रखनी चाहिए और बुरे कामों को कम करने का दृढ़ निश्चय करके ईश्वर से उसमें सहायता माँगनी चाहिए। आरंभ में इन बातों में मन नहीं लगता परंतु निश्चयपूर्वक ऐसी आदत डालने से आगे चल कर ये बातें सबको रुचने लगती हैं। जब हम अपने आपको ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं तब क्या हममें दिन पर दिन उसके गुण नहीं आ सकते। जो लोग अधिकारी और भाग्यवान् होते हैं वे कठिन यम-नियमों का पालन और योग साधन करते हैं परंतु हमारा भाग्य ऐसा नहीं है। हम हजारों व्यसनों में फँसे हुए हैं; तिस पर कानों से बहरे और आँखों से अंधे हैं। इसलिये यदि उन लोगों के बराबर हम साधन न करें तो भी अपने अल्प सामर्थ्यानुसार इस प्रकार की चेष्टा तो करनी ही चाहिए"। इस पर रमाबाई ने कहा—"यह सुन कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। तो भी नियमानुसार आपने और बातों में मेरा प्रश्न उड़ा दिया। अस्तु, मैं समझ गई कि चाय की घूँटों की तरह भोजन भी परिमित हो गया। आप इसमें अधिक ध्यान रखा करें। खाना तो आपके ही अधिकार में है न?" रानडे ने उत्तर दिया—"अच्छा हम एक बात पूछते हैं। कभी हम भी

इस बात की जाँच करते हैं कि तुम लोग क्या खाती हो, क्या पीती हो, कितनी देर सोती हो, या क्या करती हो; तब फिर तुम लोग पुरुषों की इन बातों की जाँच क्यों करती हो........ हमारे एक एक काम पर तुम जासूस की तरह दृष्टि रखती हो।"

(यह कथा रानडे के अंतिम दिनों की है।)

शंकरदत्त वाजपेयी द्वारा, भारतजीवन प्रेस, बनारस में मुद्रित।